फुगड़ी

छत्तीसगढ़ का सांस्कृतिक दर्शन



ॐ प्रकाश

डॉ. मन्नू लाल यदु
डॉ. सुरेंद्र यदु
डॉ. केशरी लाल वर्मा

फुगड़ी

छत्तीसगढ़ का सांस्कृतिक दर्शन

ॐ
प्रकाशन

फुगड़ी

छत्तीसगढ़ का सांस्कृतिक दर्शन

डॉ. मन्नू लाल यदु
डॉ. सुरेन्द्र यदु
डॉ. केशरी लाल वर्मा

प्रकाशक : ॐ प्रकाशन
टूरी हटरी, रायपुर (म. प्र.) ☎ : २७८९५
संस्करण : १९९४
मूल्य : २० रुपए अजिल्द
५० रुपए सजिल्द
मुद्रक : कृष्ण सखा प्रेस
टूरी हटरी, रायपुर (म. प्र.)

समर्पित



माननीय श्री बी. आर. यादव जी
वन, खनिज एवं पर्यावरण मन्त्री
म. प्र. शासन, भोपाल

आंचलिक व्यथा की तथा-कथा 'फुगड़ो' किसी अज्ञात मनीषी के अंत: करण का सहज प्रस्फुटन आज और अधिक प्रासंगिक हो गया है। माटी के गुणों से ओत-प्रोत सहज, सरल, निष्कपट, नित्य-निरंतर संघर्षरत अचल को गौरवान्वित करने वाले 'अनिरुद्ध व्रत' अग्रज को हमारी यह कृति सादर समर्पित है।

अभिनन्दन

छत्तीसगढ़ के सांस्कृतिक दर्शन के रूप में 'फुगड़ी' को प्रस्तुत करने में महान मनीषी विद्वान डॉ. मन्नू लाल जी यदु ने जिस केन्वास को प्रस्तुत किया है, वह अभूतपूर्व और बेमिसाल है। फुगड़ी एक सामान्य खेल न रह-कर इस पुस्तिका में वह नई परंपराओं के निर्वहन का आधार प्रस्तुत करने लग जाती है। नए पुरुषार्थ, नीति, वर्ण, वेद के साथ ही विश्व चेतना, विश्व-शान्ति एवं विश्व की कल्याण भावना का वह वाचन करने लगती है। छत्तीस-गढ़ अंचल के अति प्राचीन इतिहास से लेकर अर्वाचीन जीवन स्थितियों के चित्रण में फुगड़ी का महत्व दर्शनीय और चिरस्मरणीय बन जाता है।

छत्तीसगढ़ की संपन्न विरासत एवं नारी जागृति के साथ ही डॉक्टर साहब ने इस छोटे से ग्रंथ में लोक और जीवन के शाश्वत सत्य का साक्षा-त्कार प्रस्तुत करने में अनुभव एवं ज्ञान की चरम सीमा का स्पर्श किया है और फुगड़ी को उन्होंने छत्तीसगढ़ी संस्कृति का दर्शन शास्त्र सिद्ध किया है। अपने भाव जगत में यह बालिका गीत छत्तीसगढ़ की प्रादेशिक सीमा का अतिक्रमण कर सार्वजनीन, सार्वदेशीय और सार्वकालिक आयामों को स्पर्श करने लग जाता है। नए परिदृश्यों के आधार पर डॉ. यदु ने इस गीत में परिव्याप्त भावना की तुलना श्री मद्भागवत गीता के संदेशों से करते हुए नए मंत्रों की खोज की है। वैयक्तिक, राष्ट्रीय और अखिल ब्रम्हांडीय आस्तिक चेतना के स्वरूप में शिवत्व की परिभाषा वे प्रस्तुत करने लग जाते हैं। अपनी विशिष्टता में यह ग्रंथ छत्तीसगढ़ की साधना-यात्रा बनकर शोषण के विरुद्ध शंखनाद को परिध्वनित करने वाला लोकमंत्र की गरिमा धारण कर लेता है। छत्तीसगढ़ की माटी की सोंधी गंध के साथ ही इसके भीतर के जीवन तत्व को विद्वान लेखक ने पहचान लिया है।

डॉ. साहब की षष्ठिपूर्ति के पावन अवसर पर छत्तीसगढ़ के सच्चे सपूत के रूप में इनका हम आत्मिक अभिनंदन करते हैं और अपनी शुभआ-कांक्षाओं में छत्तीसगढ़ और छत्तीसगढ़ी की गरिमा के इस अमर गायक को अपना सम्पूर्ण स्नेह समर्पित कर अपने को धन्य मानते हैं।

१३ मार्च, १९९४

स्नेहिल,

सरयूकान्त झा

पूर्व प्राचार्य

छत्तीसगढ़ी लोक-गीतों का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन की परंपरा पिछले कुछ दिनों से प्रचलन में आ गई है । इस पद्धति के अध्ययन को डॉ. मन्नू लाल यदु ने प्रोत्साहित किया है ।

'फुगड़ी' लोक-खेल-गीत का सम्बन्ध रजस्वला होने के पूर्व तक की कन्याओं से है । वे ही फुगड़ी' खेलती और 'फुगड़ी गीत' गाती है । इस खेल में कमर, पैर, और हाथों का उपयोग होता है । लड़कियाँ ऊंकरुँ बैठकर पैर को क्रम से गति के साथ आगे पीछे ले जाती हैं। इस क्रम में संतुलन बनाए रखने के लिए हाथ का भी उपयोग होता है । जिस मनीषा ने इस व्यायाम गीत का निर्माण किया होगा, उसे एक योग्य योग शिक्षक तो होना ही चाहिए। क्योंकि, इस खेल गीत से लड़कियों के सारे अंग लचक, गतिशील, तथा सुघड़ होते हैं जो सुखद मातृत्व के लिए जरुरी है । इस गीत से तन और मन दोनों मजबूत होता है ।

जाहिर है 'फुगड़ी-गीत' लड़कियों का ही गीत है, तो उसमें नारी जीवन की व्यथा-कथा तो होगी ही । भारतीय पुरुष प्रधान समाज में नारी सदा से ही प्रताड़ित रही है । अपने जीवन में न सही कुछेक लोक गीतों, विशेष रूप से 'फुगड़ी' में तो इस व्यवस्था पर जबरदस्त प्रहार हुआ है । दूसरे अर्थ में समाज व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह का स्वर मुखरित हुआ है । इस पुस्तक के विद्वान लेखकों ने इस अध्ययन को भाषा के माध्यम से सामाजिक, जातीय, आर्थिक अन्य क्षेत्रों से जोड़ने का भी प्रयास किया है । इसे वर्तमान राजनीति के प्रभाव क्षेत्र से अलग करके देखना ही समीचीन होगा । उनके इस प्रयास में हमें भी सहभागी होना होगा । तभी हमारा अध्ययन और मनन का क्षेत्र व्यापक होगा ।

आखिर में मैं फिर से मैं विद्वान लेखकों को उनके इस प्रयास के लिए बधाई देता हूँ ।

नन्द किशोर तिवारी

विषय - सूची



श्री सत्य नारायण शर्मा

विधायक

मंदिर हसौद (रायपुर)

हार्दिक अभार

फुगड़ी
छत्तीसगढ़ का सांस्कृतिक दर्शन

१. 'लोक' शब्द की परिभाषा

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'लोक' शब्द का अर्थ 'जानपद' या 'ग्राम्य' नहीं हैं, बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत रुचि संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है, "लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूत माता पृथ्वी, और लोक व्यक्त रूप मानव– यही हमारे नये जीवन का आध्यात्म शास्त्र है। इनका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्वाण का नवीन रूप है। लोक, पृथ्वी, मानव– इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है।

लोक की व्यापक सत्ता को ग्राम या नगर की संकुचित सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। लोक का अर्थ सरल स्वाभाविक मानव समाज है, जिसकी भावनाओं, विचारों, परंपराओं तथा मान्यताओं में कल्याणकारी तत्व के साथ चिरंतन सत्य विद्यमान रहते हैं।

२. लोक गीत

लोकगीत मानव मानस की एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जिसमें भाव, भाषा, काव्य तत्व की मर्यादाओं से मुक्त रहकर स्वच्छंद रूप से निःसृत होती है। लोक-कवि के मुख से सहज रूप से प्रस्फुटित होने के कारण लोक गीतों में छंद, अलंकार आदि साहित्य के विविध विधानों का समावेश नहीं होता। उसमें सहजता होती है। लोकगीत के संबंध में लोक-साहित्य के मनीषियों ने काफी कुछ कहा है, यथा–

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार– "नीले आकाश के नीचे प्रकृति के बहुरंगी परिवर्तन, युद्ध और शांतिमय जीवन के चित्र एवं विधाता की स्त्री-संज्ञक रहस्यमयी सृष्टि की मानवीय जीवन पर प्रसाद और विषादमयी छाया - ये इन गीतों के प्रधान विषय हैं, जो शतकोटि कंठों से सहस्त्रों बार गाए जाने पर भी पुराने नहीं पड़ते और जिनकी सतत किलकारी वायु में भरे हुए चिरंतन स्वर की तरह सर्वत्र सुनाई पड़ती है। गीत मानों कभी न छीजने वाले रस के सोते हैं। वे कंठ से गाने के लिए और हृदय से आनंद लेने के लिए हैं।

लोक गीतों का संसार सत्य का संसार है। लोक गायक के अंतर्भावों का वास्तविक चित्रण वहां रहता है। जटिलता,दुरुहता और गोपनीयता जैसी बातों का अभाव रहता है। हृदय में उत्पन्न होने वाले भावों, विचारों का निश्च्छल रूप से सहज प्रगटीकरण लोकगीत की अपनी विशेषता होती है। शहरी वैभव आडंबरों से रहित ग्रामीण शांत वातावरण में हरे-भरे वृक्षों की शीतल छाया में, मेघाच्छादित नभ मंडलों में, नदियों-झरनों के सुरम्य वातावरण तथा आनंददायी कोकिल को कूलों, वर्षा की फुहारों, लहलहाते खेतों-खलिहानों के बीच लोकगीतों का सृजन होता है। आदिकवि वाल्मीकि के मुख से प्रस्फुटित कविता 'मां निषाद प्रतिष्ठां' जैसी रचना सहज रूप से अनुभवी, चिंतक, मनीषियों के मुख से निःसृत होकर जन-जन द्वारा ग्राह्य बन जाती है।

लोकगीतों का जीवन अमर होता है,यद्यपि समय के अनुसार उसका स्वरूप बदलता रहता है। समयानुसार पुराने गीत नए-नए गीतों का रूप धारण कर लेते हैं। लोक में प्रचलित गीतों को समाज का दर्पण कहा जा सकता है। युग-युग से चली आ रही मानवीय मूल्यों का अक्षय भंडार लोकगीतों में लबालब भरा रहता है।

३. रचयिता

लोकगीत का रचयिता सामाजिक चेतना संपन्न प्राणी होता है। समाज में व्याप्त समस्त चेष्टाओं,घात-प्रतिघातों,क्रिया-प्रतिक्रियाओं, आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों का समावेश लोकगीतों में मिलता है।

लोकगीतों के निर्माण में समाज का विशाल पृष्ठभूमि काम करता है। सामाजिक जन-जीवन में पल्लवित-पुष्पित समस्त मानवीय भावनाएँ,क्रिया कलाप,मान्याएँ, परम्पराएं, विश्वास आदि से रचयिता प्रेरणा प्राप्त करता है। समाज में उत्पन्न प्रत्येक घटना लोक गायक को आंदोलित करती है। समाज में व्याप्त विषमताएं उसे बेचैन बना देती है। दलित-शोषित-पीड़ित मानवता की कराह से व्यथित लोक गायक के मुख से बरबस निःसृत पंक्तियां लोकगीतों के रूप में जन-जन के हृदय में प्रवेश कर जाती हैं।

विवेच्य लोकगीत 'फुगड़ी' में छत्तीसगढ़ अंचल की व्यथा-कथा है। समाज में व्याप्त शोषण-उत्पीड़न से व्यथित रचनाकार ने जिस खूबी से इस गीत का सृजन किया है, लोकगीतों के इतिहास में यह एक बेमिसाल उदाहरण है।

छत्तीसगढ़ अंचल की सामाजिक पृष्ठभूमि ही वह कारक तत्व है, जिसने लोक गीतकार के मानस को आंदोलित किया होगा। 'धान का कटोरा' के नाम से विख्यात शांतिप्रिय जन मानस में संतोष की धारा प्रवाहित होनी चाहिए। किंतु ऐसा है नहीं। अन्याय-अत्याचार-असंतोष की मर्यादा टूट गई है।

४. फुगड़ी

लोक-साहित्य की दृष्टि से छत्तीसगढ़ अत्यंत संपन्न है, छत्तीसगढ़ी बोली अपने विपुल शब्द-संपदा तथा भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से किसी संपन्न भाषा से पीछे नहीं है। लोकोक्ति, मुहावरे, चलन, पहेलियां, बुझौवल आदि से छत्तीसगढ़ी लबालब भरा है। लोक गीतों लोक-नृत्यों एवं लोक-परंपराओं का अद्भुत संगम यहां मिलेगा। अन्यान्य कारणों से छत्तीसगढ़ी की विपुल संपदाओं का विवरणात्मक अध्ययन ही प्रकाश में आता रहा है, वस्तुतः इसकी आत्मा की ओर झांकने का प्रयास बहुत कम हुआ है। छत्तीसगढ़ी 'ददरिया' को प्रेमगीत के रूप में वर्णित कर इसे जनजीवन से दूर करने की दिशा में प्रयास हुआ। ददरिया में निहित 'भावपक्ष' का विवेचन नहीं हो पाया। 'अटकन बटकन दही चटाकन लउहा लाटा' को बाल गीत के रूप में मानकर मनन-चिंतन का विषय नहीं बनाया गया। प्राचीन लोक-मनीषियों का गहन चिंतन इन लोकगीतों में छिपा है। फुगड़ी भी इसी प्रकार की बालिकाओं की लोकगीत है।

'फुगड़ी' छत्तीसगढ़ी संस्कृति का दर्शनशास्त्र है। नारी-जीवन का ऐसा दर्शन जो विश्व-साहित्य में बेजोड़ है। शोषण, उत्पीड़न, अन्याय, अत्याचार का जीवंत दिग्दर्शन फुगड़ी गीत की आत्मा है यह न तो मात्र एक खेल गीत है, न ही लड़कियों के मनोरंजन का साधन। बाल्यकाल से ही इस गीत के माध्यम से भावी जीवन की शिक्षा इसमें निहित है। नारी-जगत की कर्मठता का यह संदेशवाहक गीत है। एक ओर जहां यह नारी-जगत को झकझोर देता है, वहीं दूसरी ओर नारियों के अधिकारों का अतिक्रमण करने वालों के लिए जबरदस्त चेतावनी और चुनौती भी है। छत्तीगढ़ की सोंधी माटी का चिंतक मनीषा इसके द्वारा अपनी भावनाओं को विश्व-ब्रह्मंड की सीमा का स्पर्श कराता है, दर्शनशास्त्र की ऊंचाई तक पहुंच जाता है। छत्तीसगढ़ में व्याप्त शोषण उत्पीड़न की व्यथा का चिंतन किसी अज्ञात मनीषी द्वारा हजारों वर्ष पूर्व किया गया था, उस व्यथा को आज हम पल्लवित पुष्पित होते हुए देख रहे हैं। उस दूरदर्शी ने अपने युग में जो कुछ

देखा था, उसी ने उसे झकझोर कर फुगड़ी गीत का सृजन कराया था। ऐसा संवेदनशील मानस आज की व्यथा को देखकर पता नहीं क्या-क्या करता। इस हृदयस्पर्शी गीत की उपेक्षा हमारी संस्कृति पर जबरदस्त कुठाराघात है।

आइए, फुगड़ी गीत की आत्मा का अवलोकन करें, जिसमें छत्तीसगढ़ी संस्कृति के साथ दर्शनशास्त्र की गहराई विद्यमान है। यह शब्दों के जजीरों से आबद्ध नहीं है, अपितु मंत्र-शक्ति से ओत-प्रोत है। इसलिए इसमें गीतात्मकता का वह आकर्षण नहीं है, जो लोकगीतों की कर्णप्रियता में होती है। यद्यपि यह गीत अपने प्रकार का एक पृथक एवं अटपटा सा लगने वाला गीत है, तथापि इसके अटपटेपन में ही बीज में वृक्ष की अपूर्व विशेषता परिलक्षित होती है। गीत इस प्रकार है –

गोबर दे बछरु गोबर दे,
चारों खूंट ला लीपन दे,
चारों देरनिया ल बइठन दे।

अपन खाथे गूदा गूदा,
हमला दे थे बीजा
ये बीजा ल लेके का करबो,
रहि जाबो तीजा।

तीजा के बिहान दिन,
सरी-सरी लुगरा।
चींव-चांव करे मंजूर के पिला,
हेर दे भउजी कपाट के खिला।

एक गोड़ मँ लाल भाजी,
एक गोड़ मँ कपूर,
कतेक ला मानब मय देवर ससूर
फुगड़ी रे फूं-फूं फुगड़ी रे फूं।

फुगड़ी मात्र बालिका वर्ग अर्थात नारी-जगत के लिए निर्धारित गीत है। एतदर्थ सृजनकर्ता के दो उद्देश्य हो सकते हैं– प्रथम यह है कि भारतीय सामाजिक जीवन दर्शन में पुरुष जाति के पौरुष को नारी ही प्रेरित, नियंत्रित और दिग्दर्शित करती है, अतः नारी के संस्कार को समूचे समाज की चेतना को सुसंस्कृत करने के लिए अनिवार्य माना गया। द्वितीय यह है कि भारतीय मान्यताओं के अनुसार कन्या देवी तुल्य पवित्र होती है, अतः उसके मुख से निःसृत वाणी अधिकतम प्रभावकारी होगी, इसलिए कन्या को भाव-सप्रेषण का उत्कृष्ट माध्यम माना गया। गान का वाचिका स्वर नारी का है, जो किसी को देवरानी और देवर कहती है तथा तीज के व्रत का आह्वान करती है

५. नामकरण

गीत का प्रथम बोल है–

फुगड़ी रे फूं-फूं, फुगड़ी रे फूं।

फुगड़ी-नामकरण के पीछे जो मंतव्य हो सकता है, वह भी विचारणीय है। फुगड़ी शब्द फु+गड़ी से बना है। इसमें 'फूं' का अर्थ फूं-फूं शब्द पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि 'फूं' का एक अर्थ मंत्रोच्चार करने वाले फूंक मारते हुए किसी व्यथा को दूर भगाने के लिए फूं-फूं ध्वनि का उच्चार करते है। फुगड़ी की आत्मा शोषण उत्पीड़न-अत्याचार की व्यथा को दूर भगाने के लिए मंत्र की फूं-फूं ध्वनि से तादात्म्य जोड़ा गया है। इसलिए प्रारंभ फूं-फूं से ही किया जाता है, ताकि व्यथा समाप्त हो जाए। मंत्रोच्चार करने वाला मंत्र सिद्ध व्यक्ति (गुनिया-बैगा-फुंकइया) अकेले ही मंत्र के प्रभाव से किसी पीड़ा या जादू-टोना के प्रभाव को निष्प्रभावी बनाकर प्रभावित व्यक्ति को स्वस्थ बना देता है। नारी-व्यथा को दूर करने के लिए ऐसे किसी मंत्र सिद्ध व्यक्ति के स्थान पर कन्याओं के समूह को लिया गया है। दूसरा भाव यह हो सकता है कि फुंकार ध्वनि का संबंध सर्प से भी होता है। सर्प का भय लोगों में स्वाभविक रूप से होता है 'भय बिन होइ न प्रीति' की बात भी कहीं जाती है। यदि

एक प्रकार से काम सिद्ध न हो, तो दूसरे प्रकार का प्रयोग भी विकल्प रूप में रखा जाता है। फू-फू जो गीत के शीर्षक से संबंधित है, जिससे नारी व्यथा को दूर किया जाना है, इसके उपर्युक्त दो विकल्प है। इनमें पहला सकारात्मक रूप है, जो मंत्र की शक्ति से युक्त है। यदि कोई इसे अनदेखा कर दे, तो दूसरा विध्वंसात्मक भाव डस कर मार डालने का है। समूचा नारी समाज नागिन जैसा व्यवहार दिखाएगा, तो निश्चित रूप से उसके प्रति होने वाला अन्याय-अत्याचार समाप्त होगा ही।

दूसरा शब्द 'गड़ी' है। गड़ी का शाब्दिक अर्थ हैं, खेल में सम्मिलित रहने वाले साथी। जब किसी खेल में दो दल होते हैं, तो प्रत्येक दल अपना-अपना साथी या गड़ी बनाकर खेल खेलता है। फुगड़ी के खेल में सभी लड़कियां एक साथ मिलकर खेलती हैं। अतः खेलने वाली सभी लड़कियां गड़ी होती हैं। फुगड़ी के खेल में सम्मिलित बालिकाओं की कोई संख्या निर्धारित नहीं होती। सामान्यतया पांच, सात, आठ, दस, बारह जितनी गड़ी (साथी) उपलब्ध हो जाती हैं, गीत गाते हुए यह खेल प्रारंभ कर देती हैं। फुगड़ी नामकरण के पीछे यही भाव स्पष्ट होता है कि कुछ लड़कियों द्वारा साथ-साथ मिल बैठकर अपने अंग-संचालन हाव-भाव के द्वारा फूंक-फूंक कर नारी-व्यथा को दूर भगाने का प्रयास किया जाना है।

छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य का विवेचन करते हुए दयाशंकर शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य का अध्ययन' में फुगड़ी गीत पर भी प्रकाश डाला है। डॉ. शकुंतला वर्मा ने लिखा है– "बच्चे फुगड़ी खेलते हैं और गीत गाते हैं। पैरों के दोनों पंजों के बल पर बैठकर उन पंजों को ही वे चलाते हैं। पूरी लय और ताल के साथ एक बार दाहिना पैर दाहिनी ओर काफी दूर तक और दूसरे ही क्षण बाईं ओर बांया पैर और पुनः इसी क्रम से निरंतर पैर आगे-पीछे करते रहते हैं।

यह खेल सामान्यतया १५ वर्ष से पूर्व की अवस्था वाली

लड़कियां खेलती हैं। वयस्क लड़कियों के लिए वर्जित प्राय है। अंग-संचालन से शरीर स्वस्थ और सुडौल बनता है।

६. प्रार्थना एवं वातावरण-निर्माण

फुगड़ी गीत का प्रारंभिक अंश है—

गोबर दे बछरु गोबर दे।
चारों खूँट ल लीपन दे।
चारों देरनिया ल बइठन दे।

शब्दार्थ— गोवत्स (बछिया) गोबर दो गोबर दो। इस गोबर से चारों खूँट अर्थात चारों दिशाओं को लीपकर स्थान को शुद्ध बनाना है और तत्पश्चात चारों देवरानियों को बैठाना है।

फुगड़ी गीत का यह प्रारंभिक अंश है। इसका प्रारंभ 'गोबर' से हुआ है। गौ का मल (गोबर) भारतीय जन जीवन में विशेष महत्व रखता है। किसी शुभ कार्य में इष्ट का आह्वान किया जाता है। छत्तीसगढ़ अंचल की सभ्यता और संस्कृति का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। यह भारत के हृदय स्थल पर है। भौगोलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होनें के साथ ही प्राकृतिक दृष्टि से भी इस अंचल की महत्ता है। छत्तीसगढ़ अत्यंत प्राचीन काल में मूलत: अनार्यों का निवास स्थान था। कालांतर में आर्यों का आगमन होता गया, जिससे अनार्य संस्कृति पर आर्य संस्कृति का काफी प्रभाव पड़ा। रामायण काल के आते-आते यह अंचल आर्यों का हो चुका था तथा दंडकारण्य का क्षेत्र अनार्य संस्कृति का महत्वपूर्ण केन्द्र बन चुका था। फुगड़ी की किया किसी जाति या वर्ग विशेष का न होकर आम नारी जगत के लिए था। अत: इसका प्रणयन-काल आर्यों के आगमन-पश्चात का होना चाहिए। इष्ट आह्वान की प्रक्रिया को आर्य-परंपरा के अंतर्गत ही माना जाना चाहिए। आर्य संस्कृति के अनुसार कार्यरंभ के पूर्व इष्ट आह्वान कीं परंपरा है। रचनाकार ने इष्ट आह्वान की परंपरा का निर्वहन किया है, किंतु परंपरा को छोड़कर लीक से हटकर

लोक मनीषी ने आर्य-परंपरा का यथावत निर्वहन न कर प्रथम पूज्य श्री गणेश जी को न मानकर गोवत्स (बछरु) का आह्वान किया है। गोवत्स को गणेश जी के बदले स्वीकार करने के पीछे अन्यान्य कारणों में एक कारण यह भी हो सकता है कि आर्य संस्कृति कृषि प्रधान होने के कारण गाय की महत्ता को स्वीकार किया गया है। फुगड़ी गीत के प्रणयन-काल में भी भारतीय कृषि प्रधान संस्कृति की प्रधानता रही होगी, जिससे गौ ही भारतीय जन-जीवन के साथ ही अर्थ तंत्र का मूलाधार रहा होगा। महाभारत काल में भी गाय की निर्विवाद उपयोगिता-उपादेयता को स्वीकार किया गया था। इसी से पर ब्रह्म परमेश्वर सोलह कलाओं के पूर्ण अवतार भगवान श्री कृष्ण ने गोपालन का कार्य स्वयं किया और गोपालकों को समाज में सम्मान जनक स्थान दिलाया। आर्य मनीषियों ने गाय का संबंध धर्म के साथ स्थापित किया और गाय को परम पूज्य घोषित कर दिया। गाय में समस्त देवताओं के निवास होने भी बात कहीं गई तथा गाय की पूजा से समस्त देवताओं की पूजा हो जाती है, वाली मान्यता चल पड़ी। श्री गणेश जी प्रथम पूज्य के रूप में स्थापित हो चुकें थे। गाय की पूजा भी चल पड़ी, अत: गाय पूज्य तो हो गई, किंतु प्रथम पूज्य नहीं। छत्तीसगढ़ अंचल में भी अंचल के कृषि प्रधान होने के कारण यहां गाय को पूज्य माना गया। कृषि-कार्य में गो-वंश की उपयोगिता होने के कारण समाज ने गाय को अधिकाधिक पूज्य रूप में स्वीकार किया। 'पंचगव्य' के रूप में गाय के साथ ही उससे प्राप्त दूध, दही, घी, मल (गोबर), गो मूत्र को भी अत्यंत पवित्र माना गया। लोक मनीषी भी गाय की महत्ता-पवित्रता से प्रभावित रहा होगा, जिससे उसने प्रथम पूज्य गणेश जी के स्थान पर गोवत्स को ही अपने इष्ट के रूप में अह्वान किया। यहां यह भी दृष्टव्य है कि रचनाकार गाय का आह्वान न कर गोवत्स से याचना करता है। गोवत्स से उसका आशय बछिया से है। फुगड़ी के खेल में सम्मिलित होने बालिकाएं अल्प वयस्क ही होती हैं, अत: बछिया से वय-साम्य की भावना भी निहित है। मातृ-शक्ति के रूप में नारी को समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त है, किन्तु कन्या पूज्य मानी गई है। कन्या

निर्दोष होने के कारण देवी के समतुल्य है। इसी प्रकार, गाय से भी अधिक पवित्र बछिया को स्वीकार किया गया।

रचनाकार ने वयः साम्य एवं शैशव की निर्दोषता के कारण गोवत्स को ही अपनी मनोकामना पूर्ति हेतु इष्ट के रूप में चयन किया। इस इष्ट गोवत्स से याचना की गई है, गोबर की जो उसका उत्सर्ज्य है। उस गोबर से अपना तात्पर्य भी स्पष्ट कर दिया है, चारों खूंट को लीपने का। इष्ट से पाने की याचना ऐसी है, जिसे देने में इष्ट को किंचित भी परेशानी न हो। प्राप्य तो इष्ट का उत्सर्ज्य है, उसे कोई भी ले सकता है। गोबर की बड़ी महत्ता है। शुद्धिकरण के लिए भारतीय संस्कृति में यह अनिवार्य है। एक और यह स्थल शुद्धि के लिए उपयोगी माना गया है, तो दूसरी ओर विविध प्रकार के पापों-दोषों के प्रायश्चित करने के लिए गोबर खिलाकर शुद्धिकरण की भी मान्यता है।

'गोबर और 'चारों खँूट' का प्रयोग लाक्षणिक है। गोबर से शुद्धिकरण का अभिप्राय है। चारों खँूट अर्थात चारों कोने से रचनाकार का भाव संपूर्ण क्षेत्र से है। चारों खँूट का प्रयोग बड़ी ही सूझ-बूझ के साथ किया गया प्रतीत होता है। किसी कक्ष के चारों खँूट का अभिप्राय सम्पूर्ण कक्ष से हो जाता है। यहां चारों खँूट कहकर यह भाव व्यक्त किया गया है कि सभी ओर, सभी दिशा अर्थात सर्वत्र। यहां विशिष्ट अर्थात्मक चारों खँूट का प्रयोग करके उन सब को ग्रहण करने का भाव इसमें निहित है, जिनके उल्लेख से उसके सर्वांग का भाव द्योतित हो सके। यथा– चार अवस्था (बाल्य, किशोर, युवा और बुढ़ापा) का प्रयोग सम्पूर्ण आयु का द्योतक हो जाता है। इसी प्रकार, चारों आश्रम से सम्पूर्ण जीवन, चारों धाम से समूचा भारत वर्ष, चारों युग से अनंत काल का भाव लिया जाता है।

इस गीत में प्रयुक्त चारों खँूट अर्थात चारों दिशा से सम्पूर्ण विश्व का भाव लिया जा सकता है। इस प्रकार शुद्धिकरण की योजना समूचे संसार की है। भारतीय संस्कृति के मूल में निहित स्वत्व का

त्याज्य करते हुए लक्ष्य को सीमित न रख कर सर्वात्म भाव के स्तर पर पहुँचकर व्यापक हो गया है।

फुगड़ी गीत में व्यक्त व्यथा न तो किसी व्यक्ति विशेष का है, न वर्ग का, न अंचल का, बल्कि यह व्यथा सार्वदेशीय, सार्वकालिक है। इसीलिए रचनाकार ने 'चारों खूंट' का प्रयोग कर विश्व के कोने-कोने को स्पर्श करने का प्रयास किया है। अन्याय-अत्याचार-उत्पीड़न-शोषण मानव समाज में अनन्त काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। मानव-समाज की यह व्यथा विश्व में सर्वत्र व्याप्त है और रहेगा। इस व्यथा ने प्रत्येक संवेदनशील मानव को झकझोरा है, जिन्हें किसी ने संत कहा, किसी ने महात्मा और किसी ने भगवान। इस व्यथा के प्रति सचेत-सावधान और प्रयास करने वाले की प्रशंसा समाज नें की है।

'गोबर' अभिधात्मक अर्थ में शुद्धिकरण के लिए प्रयुक्त होता है। व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व की शुद्धि के लिए इष्ट के कृपा की आकांक्षा है। गोबर गोवत्स का ऐसा उपादान है, जो उसका उत्सर्ज्य है, उसे देनें में इष्ट देव को किसी प्रकार की कोई हानि और श्रम नहीं है, तथापि याचक के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। याचिका अकिंचन है, वह स्वयं को आराध्य देव की उस कृपा की अधिकारिणी नहीं मानती, जो उसके लिए हानिकारक या श्रम साध्य हो; अतः सहज त्याज्य गोबरवत कृपा को ही समाज, राष्ट्र और विश्व की शुद्धिकरण के लिए प्राप्त करना चाहती है त्याग-तपस्या, पूजा-अर्चना आदि से इष्टदेव को प्रसन्न कर कुछ पाने की बात नहीं है, मात्र सहज उत्सर्ज्य रूप कृपा की याचना है। कामना पुरुषार्थ की नहीं है। पुरुषार्थ पर विश्वास होने से अहं भाव की पुष्टि होती है। अहं पतन का कारण है। यहां कर्तव्य अभिमान के त्याग की भावना है। यह भगवान श्रीकृष्ण के गीता-उपदेश के अनुकूल है।

यथा- निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधि गच्छति (गीता-२.७१) यहां अहंकार और ममता से रहित होने की बात श्रीकृष्ण

जी ने कही है। इसी प्रकार "सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" (गीता- १८/६७) के अनुसार सभी कुछ छोड़कर शरण में आने का उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया था। यहां याचिका अन्य सब साधनों को छोड़कर इष्ट देव से है। ममता और अहंकार रहित प्रार्थना करती है। फुगड़ी गीत की यह मानसिकता भारतीय दर्शन-शास्त्र के अनुरूप है।

'चारों देरनिया ल बइठन दे' अर्थात चारों देवरानियों को बैठने दो। यह याचना का अंतिम सूत्र है। याचिका स्वयं जेठानी है, अतः वह अपनी अन्य चारों देवरानियों को बात कह रही है। घर की बहू होने के नाते उसका स्तर अन्य बहुओं के समकक्ष है, तथापि ज्येष्ठा होने के नाते वह सबकी नेत्री भी है। देवरानियों के नियंत्रण, नियमन और हित साधन का दाइत्व और अधिकार उसे ज्येष्ठा होने के नाते सहज ही प्राप्त है। अपने दाइत्व-निर्वाह के कर्तव्य-बोध के कारण वह अपनी चारों देवरानियों को साथ-साथ बैठाना चाहती है। भारतीय पारिवारिक जीवन-व्यवस्था में देवरानियां भिन्न-भिन्न परिवारों के संस्कारों में पली-पनपी होकर एक घर की बहुएं बनकर एक साथ रहती हैं। पारिवारिक अधिकारों और कर्तव्यों में उनका सर्वत्र साझा रहता है। साझा की भी विडंबना है। लोक मनीषियों ने भी इसका गंभीर परिणाम को देखा-भोगा है, अतः उनकी अभिव्यक्ति 'साझी के बइला किरा के मरै' (साझे का बैल कीड़े पड़कर मरता है) एवं 'साझी के सूजी सांगा मां जाय' (साझे को सुई सांगे में ढोई जाती है) के रूप में समझी जा सकती है। साझेदारी के संबंध में अनेक अनुभव प्राप्त हुए हैं। जो एक से एक बढ़कर हैं। कश्मीरी, कौरवी, गुजराती, बंगला, बुंदेली, मराठी, राजस्थानी, आदि भाषाओं में साझे के संबंध में लोकोक्तियां प्रचलित हैं। (छत्तीसगढ़ी लोकोक्तियों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन – डॉ. मन्नू लाल यदु) सहकारिता में स्वाभाविक विडंबना यही है कि दूसरे की थाली में घी अधिक और अपने सिर का बोझ बड़ा दिखता है। घर की बहुओं में यही सहकारिता चरितार्थ होती है, जिससे

परस्पर ईर्ष्या और कटुता बनी रहती है। वे साथ-साथ कभी नहीं बैठतीं। अन्य अर्थों में कभी किसी विषय पर एकमत नहीं होतीं। यदि उनमें पारस्परिक सद्भाव उत्पन्न हो जाए, वे साथ-साथ बैठने लगें, विभिन्न विषयों पर मतैक्य होने लगे, तो समूचे परिवार का विकास निश्चित रूप से और निर्बाध गति से हो, यही सहकारिता का सिद्धांत है। इसको वह व्यवहार्य बनाना चाहती है, अतएव वह चारों देवरानियों में साथ-साथ बैठने की भावना उत्पन्न करने के लिए उनको मानसिक शुद्धि हेतु इष्ट-कृपा की याचना करती है।

पारिवारिक संदर्भ में 'चारों देवरानियों का अर्थ अभिधात्मक है, परंतु अन्य संदर्भों में इसके भिन्न लाक्षणिक अर्थ ग्रहण करने से अन्य तथ्य भी उद्घाटित होते हैं। आयोजन का अभिप्राय विभिन्न घटकों का यथोचित स्थापन है, जिससे उनकी उपयोगिताओं का समुचित दोहन हो सके। प्रस्तुत प्रसंग में आयोजिका एक दल की नेत्री है और वह अपने दल के उत्थान-विकास के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए अपने दल में भावनात्मक परिवर्तन लाना चाहती है। परिवर्तन के लिए नया संस्कार डालना है, अत: पूर्वाग्रहों का प्रच्छालन अत्यावश्यक है। अतएव सर्वप्रथम शुद्धि का उपक्रम है, तत्पश्चात मुख्य प्रक्रिया साथ-साथ बिठाने का आयोजन है।

इस आयोजन को अन्य संदर्भों में भी विचार किया जाना भी समीचीन होगा। 'चारों खूंट' का अर्थ व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व परक संदर्भों में वर्णित किया गया हैं। उन्हीं परिवेशों में यदि 'चारों देरानी' का भावार्थ ग्रहण करें, तो जेठानी वैयक्तिक, राष्ट्रीय और अखिल ब्रह्मांडीय चेतन तत्व है, जो अपने चारों अनुयायियों का नियमन करती है। वैयक्तिक जीवन में चारों देवरानियों का अर्थ चार पुरुषार्थ - अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष हो सकता है। अन्य संदर्भ में साम, दान, दंड, भेद हो सकता है। यदि शुद्ध मन से इन दोनों चतुरांगों की संतुलित स्थापना हो जाए, तो मनुष्य पूर्ण हो जाए।

राष्ट्रीय परिवेश में 'चारों देरानी' का तात्पर्य चातुर्वर्ण्य हो

सकता हैं। यद्यपि चातुर्वर्ण्य सामाजिक व्यवस्था छिन-भिन्न हो चुकी है, तथापि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य-शुद्र के लक्षणों से युक्त व्यवसाय आज भी समूचे राष्ट्र और समाज में विद्यमान हैं। प्रत्येक व्यक्ति इनमें से किसी एक या संयुक्त वर्ण के लक्षणों से युक्त व्यवसाय में संलग्न है। इनमें शक्ति और अधिकारों का असंतुलन स्वाभाविक रूप से होता है। आज समाज का नैतिक स्तर पर्याप्त निम्न हो चुका है। जहां भी शक्ति का असंतुलन है, चाहे वह राष्ट्रीय प्रशासन, समाज या व्यक्ति में हो, शोषण-दमन प्रायः निश्चित है। यह स्थिति राष्ट्रीय चेतना के लिए अभीष्ट नहीं है। यह राष्ट्र हित के प्रतिकूल है। इसका सम्यक उपचार परस्पर सद्भाव और समानता को माना जाता है, इसलिए समाज के प्रत्येक वर्ग को साथ-साथ बिठाना चाहती है। साथ बैठने के लिए सद्भाव और समानता दोनों आवश्यक है। यदि सदभाव न हो, तो विवशता पूर्वक भले ही साथ बैठ लें, किन्तु उद्देश्य पूर्ण नहीं होगा। यदि समानता न हो, तो बैठने का स्थान समान न होगा, ऊँचा-नीचा होगा। सद्भाव और समानता का परस्पर संबंध आधार-आधेय है। सद्भाव के बिना समानता और समानता के बिना सद्भाव कोरी कल्पना मात्र है। सद्भाव न हो, तो अधिकारों और अवसरों का समान वितरण कैसे होगा ? शक्तिशाली वर्ग निर्बल वर्ग को किस नाते अवसर प्राप्त करने देगा, वह शोषण और दमन का अनवरत चक्र चलाता ही रहेगा। जब असमानता होगी, निर्बल वर्ग असंतुष्ट-कुंठित रहेगा, जिससे संबधों में कटुता विद्यमान रहेगी, सदभाव नहीं होगा।

स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने वर्षों बाद भी हमारे राष्ट्र के विकास में अपेक्षित गति नहीं आ पाई है, इसका एकमेव कारण है, असमानता और असद्भाव। राष्ट्रीय चेतना इसका प्रतिकार चाहती है। भारतीय संविधान में इस हेतु पर्याप्त प्रावधान है। प्रत्येक व्यक्ति, समाज, वर्ग को सामाजिक न्याय मिले, विकास का समुचित अवसर मिले, सबके अधिकारों में समानता हो, ताकि पारस्परिक सद्भाव

और समानता का संतुलन स्थापित हो सके। राष्ट्रीय विकास के चिंतक भारतीय कानून वेत्ता संविधान निर्माताओं की मूल मंशा से बढ़कर छत्तीसगढ़ के फुगड़ी गीत के रचनाकार ने इसे पहले ही संस्कार रूप में ढालने का प्रयास किया है, एतदर्थ इष्टदेव से प्रार्थना की गई है कि सबको साथ-साथ बैठने दो।

सार्वभौमिक परिप्रेक्ष्य में 'चारों देरानी' का अर्थ चारों वेदों से अभिप्रेत है। चतुर्वेद से मानव धर्म की उत्पत्ति मानी जाती है। मानव धर्म का समावेश विश्व के प्रत्येक सम्प्रदाय की मौलिक भावना में है। विश्व-चेतना, विश्व-शांति, और विश्व-कल्याण का मार्ग विश्व मानव धर्म को मानते हुए चतुर्वेद की स्थानना की कामना करती है।

गीत के प्रारंभिक प्रार्थना खंड में छत्तीसगढ़ के अज्ञात रचनाकार का भाव कुछ इस प्रकार प्रतीत होता है – हे गोवत्स ! तू मुझ पर ऐसी कृपा कर, जो तुम्हारे लिए सहज ही देय हो, उस अपूर्व कृपा से मुझे अपने आपको पवित्र कर लेने दो, फिर उसमें चार पदारथ, और चार नीतियों का समुचित स्थापना होने दो, ताकि मेरा व्यक्तितत्व पूर्ण हो, जीवन सफल हो। उस कृपा से मेरी मातृभूमि की राष्ट्रीय भावना पवित्र हो और समाज के प्रत्येक वर्ग में समानता और सद्भाव का सामंजस्य स्थापित हो, जिससे राष्ट्र सुखी और समृद्ध हो। उसी कृपा से समस्त विश्व-मानस की शुद्धि हो और मानव-धर्म की स्थापना होकर विश्व शांति और विश्व कल्याण संभव हो।

७. शोषण का स्वरूप

गान का अग्रिम खण्ड तीन पंक्तियों में है –

अपन खाथे गूदा-गूदा,
हमला देथे बीजा।
ये बीजा ल का करबो,
रहि जाबो तीजा।

तीजा के बिहान दिन,
सरी-सरी लुगरा ।।

शब्दार्थ – स्वयं तो गूदा-गूदा (फल मज्जा) अर्थात सार भाग खाते हैं और हमको बीज मात्र देते हैं। इस बीज का क्या करेगें, अच्छा है – तीज का व्रत रख लेंगी। परिणामत: तीज के दूसरे दिन नई-नई साड़ियां मिलेंगी ।

लोकगीत की यह विशेषता होती है कि एक ही गीत के विभिन्न स्थलों पर विभिन्न पात्रों का प्रतिनिधित्व करते हुए भिन्न-भिन्न भाव अभिव्यक्त करते हैं। प्रस्तुत लोकगीत का प्रथम खण्ड जहां भक्ति और मंगल की साधना है, वहीं द्वितीय खण्ड प्रतिनिधित्व करता है – शोषित वर्ग का । "अपन खाथे गूदा-गूदा, हम ला देथे बीजा" स्पष्ट है एक ऐसा वर्ग है, जो स्वयं तो गूदा-गूदा अर्थात फल का मज्जा भाग जो स्वाद और पोषण की दृष्टि से प्रशस्त है, खा लेते हैं और वाचिका वर्ग को बीज मात्र देते हैं, जिससे उदर-पोषण तो हो सकता है परन्तु स्वाद और पोषण की दृष्टि से महत्व-हीन है। प्रासंगिक अर्थों में गूदा-गूदा का तात्पर्य भोग-ऐश्वर्य की सामग्रियां हैं, और बीजा शब्द जीवनोपयोगी न्यूनतम आवश्यक-ताओं की भी आपूर्ति से अभिप्रेत है। वितरण-व्यवस्था का जबरदस्त असंतुलन ही तो शोषण है। "अपन खाथे" और "हमला देथे" कथन से स्पष्ट है कि वितरणकर्ता गूदा खाने वाला वर्ग है। गूदा खाने वाला शोषक और बीज मात्र पाने वाला शोषित है ।

शोषण को स्पष्ट करने के लिए जो उपमा दी गई है, वह उत्कृष्ट साहित्य में भी दुर्लभ है। यहां पके हुए आम की उपमा दी गई है। अन्य पके फलों में बीज प्राय: फेंक देने की चीज होती है, किंतु आम के साथ ऐसा नहीं होता। आम की गुठली में गूदा का अवशेष प्राप्त होता है, अत: उसे फेंकने के पूर्व चूस लिया जाता है । अन्य किसी फल की बात होती, तो उससे शोषण की उपमा संभव न

थी। आम की गुठली में चूंकि गूदे का अंश चिपका हुआ होता है, अत: वही शोषित वर्ग के लिए देय माना गया। शोषित तो केवल इतना पा रहा है कि फल का खट्टा-मीठा स्वाद चख रहा है, खाने जैसा कुछ भी नहीं। शोषक खाने वाला है, शोषित चखने वाला है। खाथे और देथे क्रिया का यही अभिप्राय है कि खाने वाला दूसरे को चखने के लिए दे रहा है।

रचनाकार ने तात्कालीन और स्थानीय शोषण चक्र का चित्रण कर अपनी अथवा समाज की प्रतिक्रियात्मक वृत्तियों का अंकन किया है, तथापि शोषण का क्रम कालबद्ध तो है नहीं। समाज में जब से मानवीय मूल्यों का पतन आरंभ हुआ, सबल वर्ग द्वारा निर्बल वर्ग का शोषण होता आ रहा है। अतः प्रस्तुत अभिव्यक्ति और आह्वान की सार्थकता भी शाश्वत बन पड़ा है। स्वयं रचनाकार ने भी "खाथे" "देथे" इस क्रिया का प्रयोग कर आरंभ में ही शोषण की नित्यता का संकेत दे दिया है।

शक्ति का असंतुलन + मानवीय मूल्यों का पतन = शोषण, यह समीकरण सार्वभौमिक और शाश्वत है।

इस शोषण से रचनाकार उद्वेलित है। उसका अपना परिवेश छत्तीसगढ़ का ग्राम्य जीवन है, जहां वह शोषण देखता है -- नारी जाति का – पुरुष प्रधान समाज के द्वारा, कृषक-श्रमिक वर्ग का पूंजीपतियों द्वारा, पिछड़ी जातियों का – तथाकथित उच्च जातियों द्वारा, और वह अपने उद्‌गारों को अभिव्यक्ति देने के लिए पात्र की कल्पना में छत्तीसगढ़ की ग्राम्य नारी को प्रतिष्ठित करता है, जो वस्तुतः इन सबका प्रतिनिधित्व करती हैं।

भारतीय सामाजिक जीवन-व्यवस्था का निर्धारण इस तरह हुआ कि पुरुष का शौर्य और नारी की भावनात्मक शक्ति समन्वित होकर अजेय हो जाए। परन्तु कालान्तर में नैतिक मूल्यों का पतन

हुआ, दानवता की वृद्धि हुई। भावनात्मक शक्ति की महत्ता उपेक्षणीय हो गई और भौतिक शक्ति ही शक्ति के रूप में रह गई। परिणामतः शक्ति स्वरूपा नारी अबला बन गई। अबला का शोषण-दमन हो, तो आश्चर्य ही क्या ?

वह कहने को गृहणी थी, परन्तु वस्तुतः "घर की चहारदीवारी में बंद दासी" यही उसका अस्तित्व रह गया। उसके ज्ञान और शिक्षा के स्रोतों पर तथाकथित नैतिकता का प्रतिबंध लगा दिया गया। सच तो यहां तक है कि पति की मृत्यु के उपरान्त उसे जीवित ही पति की चिता में झोंक दिया जाता रहा था।

आज नारी की स्थिति में सुधार निश्चित रूप से हुआ है, तथापि अधिकांशतः वह भोग्या मात्र ही है। एक पतिव्रत उसके लिए मर्यादा है। परन्तु पुरुषों के लिए यह मर्यादा बंधन नहीं। उसकी अज्ञानतावश की गई भूल उसके जीवन को नारकीय बना देती है, परन्तु पुरुष का दुराचार उसके जीवन में उल्लेखनीय नहीं रह जाता। यद्यपि वह खेतों-खलिहानों से लेकर केन्द्रीय मंत्रालयों तक में है, फिर भी सशंकित है। और विडंबना तो यह है कि नारी सर्वाधिक नारी से ही भयाक्रान्त है, किसी ललना पर लांछन और व्यंग-प्रहार जितनी सास, ननंद और पड़ोसिनें करती हैं, कोई पुरुष नहीं करता।

पाश्चात्य नारी जगत जो भारतीय नारी समाज का आने वाला कल जैसा प्रतीत हो रहा है, वह भी तो शोषण से मुक्त नहीं है।

नारी मुक्ति आंदोलन जैसी गतिविधियां प्रारंभ हुई है। अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष भी मनाया जाने लगा है, जो आधुनिक युग की देन है। किसी अज्ञात चिंतक ने सैकड़ों वर्ष पूर्व इस दिशा में महिला वर्ग को पहले ही न केवल सचेत किया, वरन मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त किया है। विवाह होने से पहले खेल के माध्यम से वह

व्यथा-कथा को अपने मानस में स्थान दे चुकी होती है।

सामाजिक जीवन में नारी की भूमिका का महत्व निर्विकल्प हैं, फिर भी उसकी यह अवस्था "गूदा"–"बीजा" के अनुपात में शोषण ही तो है। शोषण का प्रतिकार ही फुगड़ी है।

शोषितों का एक वर्ग है–ग्रामीण, कृषक, श्रमिक, श्रमजीवी आदि।

मटमैले सलूखा – अंगोछा पहने सिर पर गठरी लिए, सहमा हुआ कोई प्राणी बस या ट्रेन में किसी श्वेत-धवल वस्त्र सज्जित महाशय के बगल की खाली सीट पर बैठ जाए, तब देखिए क्या होता है। कार्यालयों में अधिकारी से लेकर चपरासी तक का तिरस्कार और अपमान युक्त व्यवहार यह तो इनकी नियति ही बन चुकी है। ये भू-स्वामी अथवा भूमि स्वामी अर्थात किसी भी रूप में स्वामी हैं। और जो सेवक हैं – ग्राम सेवक, समिति सेवक या अन्य किसी रूप में जनता के शासकीय सेवक, वे गंभीर मुद्रा धारण किए कुर्सी या चारपाई पर विराजमान होते हैं तब उनके समक्ष इन कथित स्वामियों की कातर भाव-दशा आपने देखी होगी। ये अन्न दाता हैं – जेठ की तपती दुपहरी में, सावन-भादों की मूसलाधार वर्षा में या अगहन पौष की ठिठुरती रातों में ये निवस्त्र खेतों-खलिहानों में खटकर अन्न उगाते हैं, समूचे समाज की भोजन-व्यवस्था करते हैं और समाज प्रतिदान स्वरूप इन्हें देता है- अपमान, तिरस्कार, और अभाव से भरा जीवन, भोजन व्यवस्था करने वाला स्वयं भूखा।

ये कपास उगाते हैं, मिलों कारखानों में समाज के लिए वस्त्र उत्पादन करते हैं, पर स्वयं चिथड़ों में ठंड काटते हैं। ये भव्य भवन और कालोनियां बनाते हैं और स्वयं फुटपाथ पर सोते हैं।

क्या यह इनका शोषण नहीं ? ये शोषित हैं, तो शोषक कौन हैं ?

८. युगीन सत्य

अपने युग का अपना सत्य होता है। शोषण की व्यथा-कथा विगत कई सो वर्ष पूर्व रचनाकार की देन है। आज के वर्तमान युग में प्राचीन वर्ण व्यवस्था की सामाजिक संतुलन-सामंजस्य की सुव्यवस्था समय के अंतराल में समाप्त हो गई और इससे विकसित नई व्यवस्था ने समाज की दिशा बदल डाली। फलस्वरूप पिछड़ी जाति और उच्च जाति की नई मान्यता और राजनैतिक स्वार्थ से एक ऐसी खाई तैयार हो गई, जो 'आत्मदाह' की कल्पना को सार्थक बना रहा है। तथा विकसित इस युगीन सत्य को अनदेखा भी नहीं किया जा सकता। इस दिशा में पुन: चिंतन की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता।

वैदिक काल में सामाजिक व्यवस्था की संरचना अत्यंत संतुलित ढंग से हुई थी। प्राच्य दर्शन सृष्टि को त्रिगुणात्मक मानता है। प्रत्येक प्राणी में भी सत्व-रज-तम इन तीन गुणों को देखता है। किसी प्राणी में इन्हीं त्रिगुणों की न्यूनाधिक मात्रा के अनुसार उसके विशिष्ट स्वभाव का निर्माण होता है। इस वैशिष्ट के आधार पर उन्होंने सामाजिक दाइत्वों का भी विभाजन किया। सत्व गुण प्रधान व्यक्तियों को लोक शिक्षण-कार्य में नियुक्त किया और उन्हें "विप्र" संज्ञा दा गई। सत्व एवं रजात्मक गुण प्रधान व्यक्तियों के शौर्य का प्रयोग प्रशासनिक और युद्धादि के लिए नियत किया और उन्हें क्षत्रिय संज्ञा दी गई। रज-गुण प्रधान व्यक्तियों के गुण और स्वभाव वैशिष्टय का प्रयोग कृषि, गोपालन और वाणिज्य के लिए निर्धारित कर उन्हें वैश्य संज्ञा दी गई। रज-तम गुण प्रधान व्यक्तियों के कुप्रभाव से सामाजिक जीवन की सुरक्षा के लिए उन्हें अन्यों के आदेश का पालन कर सेवा के लिए नियुक्त कर "शुद्र" कहा गया। यह एक उत्कृष्ट प्रयोग था। "वर्ण" किसी व्यक्ति को व्यवसाय के आधार पर प्राप्त होता था और उसके व्यवसाय का निर्धारण संतति के आधार पर नहीं, उनके गुण वैशिष्टय के आधार पर होता था।

इस तरह गुण और प्रतिभा का समुचित दोहन समाज के हित में हो रहा था। परन्तु इस व्यवस्था में अपने गुण वैशिष्ट के आधार पर विप्र पुत्र को शुद्र व्यवसाय में और शुद्र पुत्र को विप्रादि अन्य व्यवसाय में संलग्न करना पड़ता। पुत्र मोह के कारण लब्ध प्रतिष्ठित वर्ग को यह प्रक्रिया कष्टदायक प्रतीत हुई और उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को जन्मगत आधार प्रदान कर दिया।

यहीं पर वर्ण-व्यवस्था ध्वस्त हो गई और प्रादुर्भूत हुई जाति-व्यवस्था। फिर रावण विप्र हुए और एकलव्य शुद्र। व्यवसाय का आरक्षण था, अत: जहां एक ओर व्यवसायियों की क्षमता का ह्रास हुआ, वहीं दूसरी ओर एकलव्यों के अँगूठे कटने लगे।

समय बीतता गया, अवसर के अभाव में पिछड़ी जातियां और पिछड़ती गई। फिर इनका अनेक बार विभाजन भी होता रहा, क्योंकि चतुर लोग जानते हैं विभाजन करो और राज्य करो।

इसी का दुष्परिणाम आज हम देख रहें हैं - समाज में विकास के असंतुलन के रूप में।

भारत में ३० प्रतिशत जनसंख्या अनुसूचित जाति-जनजाति की है, ५४ प्रतिशत अन्य पिछड़ी जातियां हैं, ४ प्रतिशत अन्य अल्प सख्यक और शेष १२ प्रतिशत लब्ध प्रतिष्ठित जातियां शासन और प्रशासन के महत्वपूर्ण पद, व्यवसाय-उद्योग और संपत्ति इन १२ प्रतिशत में केन्द्रित है। अनुसूचित वर्ग को आरक्षण मिलने के कारण उनका तनिक विकास हुआ, परन्तु शेष ५४ प्रतिशत अभी तक शैक्षणिक, आर्थिक, राजनैतिक विकास की दृष्टि से काफी नीचे हैं। शक्ति और सत्ता १२ प्रतिशत जनसंख्या पर केन्द्रित है, तो शेष ८८ प्रतिशत का शोषण अवश्यंभावी है।

और भी व्यक्तिगत रूप से देश-काल और स्वभाव जन्य परिस्थिति से शोषित हैं, उन सबका प्रतिनिधित्व करते हुए वाचिका व्यथा-चित्रण करती है, "अपन खाथे गूदा-गूदा, हम ला देथे बीजा । और वह अपनी मानसिकता के अनुसार उन सबका आह्वान करती है – "ये बीजा ल का करबो, रहि जाबो तीजा" ।

९. आन्दोलन तीज का व्रत

वितरण व्यवस्था में असंतुलन जन्य शोषण के प्रति विद्रोह प्रकट हो गया है । ऐसी स्थिति में वाचिका समस्त शोषितों को आन्दोलन के लिए आह्वान कर देती है । गांधी जी से पूर्व आन्दोलन प्रायः सत्ता प्राप्ति के लिए होते थे । उन्हें राजद्रोह माना जाता था । और शासक कठोरता पूर्वक उसका दमन करते थे । परन्तु गांधी जी ने आन्दोलन के पृष्ठभूमि की परंपरागत भावना को नवीन आयाम दिया, उनका आंदोलन मात्र सत्ता का आग्रही न होकर मानवीय अधिकारों का आग्रह था । उसे उन्होंने "सत्य स्वरूप माना और अपने आंदोलन को "सत्याग्रह" नाम दिया ।

प्रस्तुत गीत का रचनाकाल गांधीवाद के अभ्युदय से बहुत पहले का है । अतः इसे गांधी जी से प्रभावित मनोवृत्ति नहीं कहा जा सकता, तथापि यह आन्दोलन भी मूलतः "सत्याग्रह" ही है । मूलतः समान होते हुए भी गांधी जी के सत्याग्रह और इस गीत के सत्याग्रह में स्वरूपतः भिन्नता है । गांधी जी नव्य वेदान्त दर्शनवादी थे, अतः उनकी प्रवृत्ति में मानववादी दृष्टिकोण का प्रभाव था । परन्तु इस गीत का रचनाकार मध्ययुगीन हिन्दू समाज के संस्कारों से प्रभावित है, अतः इनकी प्रवृत्ति में "आग्रह" है । आन्दोलन भौतिक पृष्टभूमि में न होकर अधिदैविक स्तर पर प्रदर्शन के रूप में है । गांधी जी अपने शांतिपूर्ण आन्दोलन से आततायियों की भावना के मृदुतम अंग में अपने लिए स्थान बनाकर न्याय पाने पर विश्वास करते थे ।

प्रस्तुत गीत में देवाराधन कर देव कृपा से अभीष्ट सिद्धि के साधक हैं। इनका प्रदर्शन शोषकों के समक्ष नहीं "देव" के समक्ष हैं। इसलिए आहूत आन्दोलन का स्वरूप है "रहि जाबो तीजा"।

भादों मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया को हिन्दू नारियां निर्जल-निराहार व्रत रखकर अपने सुहाग की मंगल कामना करती हैं। भगवान शंकर की मूर्ति बनाकर रात्रि में पूजन करती हैं और दूसरे दिन प्रातः नई साड़ी पहनकर नाना-विध मिष्ठानों से व्रत का पारायण करती हैं। इस व्रत में तीन बिन्दु स्पष्ट हैं - अन्न जल का परित्याग, शिव आराधन और नई साड़ी पहनकर मिष्ठानों से पारायण। एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह कि यह व्रत नारी जाति मात्र का व्रत है। रचनाकार ने इस तीज व्रत को ही अपने आन्दोलन का प्रतीक बना कर यह स्पष्ट कर दिया है कि उसके अपने मत से शोषितों के आन्दोलन का स्वरूप यहीं होना चाहिए। यदि वितरण गूदा-बीजा के अनुपात में असन्तुलित है, तो बीजा मात्र से जीवन संभव नहीं, उसका भी परित्याग कर दो, और जगत् पिता की आराधना करो, उनसे अपनी व्यथा निवेदन करो, फिर सफलता निश्चित है। जैसे तीजा के बिहान दिन, सरी-सरी लुगरा। यह नई साड़ी तीज व्रत का ही उपादान होता है, इसे "तीजहा" कहते हैं, इसकी प्राप्ति में आवश्यकता या किसी की उदारता या स्नेह कारण स्वरूप नहीं होता मात्र तीज व्रत के कारण मिलता है और निश्चित रूप से मिलता है। ठीक इसी तरह यदि शोषित वर्ग अन्यायपूर्ण वितरण का बहिष्कार कर दे और ईश्वर से व्यथा निवेदन करे, ईश्वर भक्ति को अपने कष्ट निवारण का साधन स्वीकार कर ले, तो मात्र वहीं नहीं मिलेगा, जिसका परित्याग किया अथवा जिसे पाने के लिए संघर्ष है, अपितु अतिरिक्त प्राप्ति "नई साड़ी" रूपात्मक अयाचित ईश्वर कृपा होगी, जिससे अन्यान्य समस्त त्रिविध तापों-दुखों का निवारण होगा। यदि पूर्ण मनोयोग से समस्त सांसारिक आश्रयों का त्याग कर ईश्वर के

शरण हो जाए, तो ईश्वर न सिर्फ याचक की मनोकामना पूर्ण करने हैं, अपितु अन्य समस्त दुखों से मुक्त कर देते हैं। यह श्री मद्भगवद् गीताकार का दर्शन है "सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेंक शरण व्रज । अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः । १८/६६ ।। इस महान दार्शनिक तथ्य को उस अज्ञात शब्द शिल्पी ने जनपदोन्मुखी बनाकर इस रूप में व्यक्त किया –

ये बोजा ल का करबो, रहि जाबो तीजा ।

तोजा के बिहान दिन, सरी-सरी लुगरा ।।

यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि रचनाकार ने 'तीजा के बिहान दिन' कहा है । तीज के दूसरे दिन गणेश चतुर्थी का व्रत होता है । गणेश चतुर्थी का दिन फल प्राप्ति का है। पौराणिक गथाओं के आधार पर भगवती पार्वती जी ने भी तीज का व्रत किया था । उन्हें भी चतुर्थी को भगवान शंकर जी की कृपा प्राप्त हुई थो । इस प्रकार नारी समाज के लिए चतुर्थी फल प्रप्ति का पर्व बन गया । इस प्रसंग में यह भो उल्लेखनीय है कि छत्तीसगढ़ अंचल में महिलाएँ तीज का व्रत अपने मायके में रखती हैं । रचनाकार ने एक खूबसूरत संकेत दिया है, वह यह कि ज्येष्ठा ससुराल में अपनी चारों देवरानियों को एक साथ बैठाकर शोषण के विरुद्ध आगाह करती है एवं इस व्यथा से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए आंदोलन के रूप में तीज का व्रत करने के लिए मायके चली जाती है । उसके साथ उसकी देवरानियाँ भी मायके चली जाती हैं ।

आंदोलन के लिए शक्ति, सामर्थ्य, साहस चाहिए । असहाय अबला भला आंदोलन कैसे करे । शोषक वर्ग बहुत सबल होता है । आंदोलन को कुचल देने की शक्ति उसमें होती है । रचनाकार इन बातों से न केवल भिज्ञ है, अपितु गंभीरतापूर्वक चिंतन करने के बाद एवं आंदोलन की शत-प्रतिशत सफलता की गारंटी के साथ आंदोलन करने

के लिए उत्प्रेरित करता है। नारी आंदोलन ससुराल में संभव नहीं है। वहां बहू की अपनी मर्यादा है। उस वातावरण में आंदोलन तो क्या अपनी अभिव्यक्ति दे पाने में भी अक्षम है, अतः आंदोलन के लिए मायके का चयन किया गया। मायके में बहू न होकर बेटी बन जाती है। वह अकेली नहीं होती। वहां वह शक्तिशाली बनकर अपने परिवार तथा अन्य जनों की शक्ति प्राप्त कर लेती है।

इस आंदोलन को क्रियान्वित करने का निर्णय पूर्व में ज्येष्ठा सहित चारों देवरानियों ने लिया है और इसकी सफलता के लिए सभी को तीज का व्रत रखने मायके जाना है। सभी बहुएँ यदि मायके से ससुराल वापस नहीं लौटेंगी, तो परिवार के पुरुषों द्वारा किया जाने वाला अन्याय-अत्याचार सारी दुनिया के सामने उजागर होगा। उस परिवार का संबंध अन्य पांच परिवार से है, अतएव अन्याय के विरुद्ध तथ्यों के प्रस्तुतीकरण हेतु पांच परिवार एक साथ हैं। परिणाम में बहुओं के प्रति होने वाला अन्याय सत्य प्रमाणित होगा ही तथा बहुओं का आंदोलन सफल होगा ही।

ससुराल की ज्येष्ठा बहू आंदोलन की नेत्री आंदोलन क्रियान्वित करने तीज व्रत के लिए मायके आई है। मायके में वह अपनी भाभी को संबोधित करती है। नारी-व्यथा ननद और भाभी की समान होती है, आखिर दोनों बहुएँ भी होती हैं। भाभी की व्यथा भी वही है, जो ससुराल से मायके आई ननद की है।

अब हम आन्दोलन की पृष्ठभूमि में अनेक विध कारण देखते हैं और आन्दोलन की पद्धति भी नानाविध है, यथा-प्रदर्शन, धरना, अनशन, हड़ताल, आमरण-अनशन, घेराव, हिंसा, तोड़-फोड़, नारे बाजी आदि आदि। उस रचनाकार ने इन सबको अस्वीकार किया, क्योंकि इनसे प्रथम तो सफलता संदिग्ध होती है और सफलता मिल भी गई, तो अधिकतम उतना ही मिलेगा, जितना हमने मांगा। वह

भी प्रतिपक्ष से कटुता के मूल्य पर, जन-धन की हानि हुई सो अलग। अतः रचनाकार ने आध्यात्मिकता उक्त आन्दोलन पद्धति का ही चयन किया है, जिसमें इन सब विसंगतियों के लिए कोई स्थान नहीं।

१० आंदोलन का क्रियान्वयन

अग्रिम सोपान है –
चींव चांव करे मंजूर के पिला ।
हेर दे भउजी कपाट के खिला ।।

शब्दार्थ – मयूर (मंजूर) के शावक (पिला) चींव-चांव कर रहे हैं अर्थात कुलबुला रहे हैं। हे भाभी ! तू फाटक (कपाट) की कील (खिला) खोल दे।

भावार्थ – अपने लोक-गीत गत वैशिष्ट्य युक्त गान की इस पंक्ति में वाचिका मायके पहुँचकर ननद है, जो अपनी भाभी को सम्बोधित कर रही है। मयूर शावक कुलबुला रहे हैं, क्योंकि वे एक प्रकोष्ठ में बंद हैं, जहां से वे बाहर निकलना चाहते हैं। परन्तु फाटक में कील चढ़ा हुआ है। प्राचीन काल में "ताले" का प्रचलन नहीं था या बहुत कम था, संभावित सामान्य आघात-प्रत्याघात से संकल आसानी से खुल न पाए इस उद्देश्य से संकल (कुण्डी) के ऊपर से लकड़ी या बांस का एक शंक्वाकार टुकड़ा लगा दिया जाता था, अब भी यह प्रचलित है और यही प्रस्तुत संदर्भ में "कपाट के खिला" से अभिप्रेत है। वह कील तू खोल दे। लक्षणात्मक अर्थों में प्रकोष्ठ का फाटक खोल दे और मोर शावकों को मुक्त कर दे।

गान के पूर्व खण्ड में ग्राम्य वधु आन्दोलन/सत्याग्रह के प्रति अपना संकल्प व्यक्त कर चुकी है, उसके अन्तर्शक्ति के स्फुरण का स्पष्ट संकेत है।

वह जानती है – यह पीड़ा मात्र उसकी भाभी की नहीं, सम्पूर्ण नारी जाति/शोषित वर्ग की है, वह यह भी जानती है, कल उसे भी उसी शोषण और पीड़ा से युक्त जीवन में प्रवेश करना है, उसे ही नहीं समूची आगामी पीढ़ी को वह यातना झेलनी है, अतः उसका प्रबल आग्रह इस आंदोलन के समर्थ में व्यक्त होता है ।

शोषित वर्ग के आंदोलन, सत्याग्रह अथवा विरोध कुचल दिए जाते हैं । इस प्रक्रिया में शोषक वर्ग का स्वार्थपरक दमन वृत्ति तो स्वाभाविक है । परन्तु दुर्भाग्यवश शोषित-वर्ग में अपनी शक्तिबोध का अभाव इसका प्रमुख कारण होता हैं । कभी शोषित वर्ग की संकल्प वृत्ति स्वयं संकुचित हो जाती है । उनके शोषण मात्र के लिए निर्मित मर्यादा बन्धनों के उल्लंघन का साहस वे नहीं कर पाते, अतः ननद आन्दोलन की सफलता में संभावित दोनों ही अवरोधों पर प्रहार करती है । प्रथम पक्ति में वह अपनी भाभी के माध्यम से सम्पूर्ण शोषित वर्ग की अन्तर्शक्ति को कुलबुलाते हुए मोर शावक की उपमा विशिष्ट अर्थो में देती है, तथा द्वितीय पंक्ति में इसी प्रकार मर्यादा बन्धनों को 'कपाट के खिला' के रूप में कह कर व्यक्त किया है ।

शोषित वर्ग की शक्ति को मोर शावक की संज्ञा विशिष्ट प्रयोजन से दी गई है किसी भी प्राणी का शैशव स्वाभाविक रूप से निर्विकार होता है, उसका भोलापन, उसकी निरीहता, हृदय के प्रेम और करुणा का अनायास ही हरण कर लेती है, तथापि मोर शावक के सौन्दर्य का अपना ही आकर्षण होता है । अनुपम सौन्दर्य, भोलापन, और निरीहता के मृदु गुणों के साथ मोर शावक में एक ऐसी सहज शौर्य का अद्भुत समन्वय होता है कि वह किसी भयंकर विषधर का खेल ही खेल में प्राणान्त कर दे । ठीक ऐसे ही शोषित वर्ग का समग्र व्यक्तित्व, सौन्दर्य, भोलापन और निरीहता से युक्त होता है । सामान्य दृष्टि से उसमें शौर्य की कल्पना नहीं की जा सकती, परन्तु

उसमें यह तथ्य है कि मोर शावक की भांति अद्भुत शक्ति की सुषुप्त भंडार है,जो किसी विषधरवत् दुर्धर्ष प्रतिद्वन्दी का दमन अपने नित्यकर्म के रूप में कर सकता है ।

प्रस्तुत प्रसंग में ननद भाभी/शोषित वर्ग के हृदय की कोमल भावनात्मक संरचना में निहित सहज शक्ति का बोध करा कर उसका साहस संवर्धन करती है । संघर्षकाल में उसके मन में किसी हीन भावना की संभावना का भी निराकरण करती है । सांकेतिक रूप में वह उसकी शक्ति को मोर शावक कहकर उसे अजेय घोषित कर देती है । वह स्पष्ट कर देना चाहती है – जब तू गूदा-बीजा अनुपात में वितरण के विरोध में आन्दोलन रत होगी, निश्चय ही उस समय शोषक वर्ग तेरे आन्दोलन को कुचल देना चाहेगा । अभी तक यही तो होता रहा है, उस समय तू स्वयं को अबला निर्बल मान पलायन मत कर देना, पलायनवादी ही कुचले जाते हैं, तू अपनी उस मोर शिशु के समान सर्प कुल हन्ता शक्ति का स्मरण रखना, संघर्ष करना, तू अजेय है ।

व्यावहारिक जगत में भी उक्त तथ्य अतिरंजित प्रतीत नहीं होते । वस्तुतः हमारे समाज की नारी जाति, कृषक-श्रमिक वर्ग या पिछड़ी जातियां अपनी वास्तविक शक्ति का प्रयोग शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने में लगा दें, तो क्या वे अजेय सिद्ध नहीं होंगे ।

इसके पश्चात इन पीड़ित वर्ग के आन्दोलन के प्रति संकल्प के मूर्त्त रूप प्रकट होने में एक और प्रमुख आशंका होती है – इनकी संकोच वृत्ति । परंपरागत रूप से औचित्य या श्रेष्ठता के मानदण्ड के प्रारूप मर्यादा बन्धनों का इनके व्यक्तित्व पर संस्कार रूप में आरोपित होता है,उनके उल्लंघन का साहस कर पाना सरल नहीं होता । व्यक्ति के पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में अनुशासन व्यवस्था और स्थाइत्व के लिए मर्यादा की अपेक्षा अपरिहार्य होता है । मर्यादा के

बिना मानव जीवन पशु तुल्य, निरंकुश और स्वेच्छाचारी हो जाएगा, जो किसी भी तरह ग्राह्य नहीं हो सकता। परन्तु कोई मर्यादा वृत्त जब किसी वर्ग विशेष के मूल मानवीय अधिकारों का अतिक्रमण कर रहा हो,तो उसके औचित्य पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है। ऐसी मर्यादा अपने निर्माताओं के अविवेक या दुर्भावनाओं को प्रकट करती है। हमारे समाज में इस प्रकार की अनेक मर्यादाएं हैं, जो तात्कालीन परिवेश में कदाचित उपयोगी और औचित्यपूर्ण रहे हों, परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में वे वर्ग विशेष के शोषण-उत्पीड़न के साधन मात्र बन कर रह गए हैं। इन्हीं मर्यादाओं ने हमारी सामाजिक व्यवस्था को विद्रुप कर रखा है। हमारे भारतीय समाज में मर्यादाओं के प्रणेता एक वर्ग विशेष रहा है, उनके विधान में भी मानवीय त्रुटि, अविवेक या स्वार्थपरता की सम्भावना अस्वीकार नहीं की जा सकती ,अत: किसी भी मर्यादा के औचित्य की समीक्षा का अधिकार मानव बुद्धि को है। समाज में वैचारिक क्रांति के अनेक झकोरे आए हैं, जिनमें पारंपरिक मर्यादा का विसर्जन कर नवीन मर्यादा की स्थापना की गई और वह परिवर्तन समाज के लिए मंगलकारी सिद्ध हुआ। आर्य धर्मावलम्बियों के परम पुरुष 'राम' ने एक पत्नी की मर्यादा को स्वीकार कर स्वर्ण की सीता से ही अश्वमेघ यज्ञ सम्पन्न किया। राजा राममोहन राय ने सती प्रथा का अन्त कर सामाजिक मर्यादा को एक नवीन आयाम दिया। महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता निवारण की दिशा में सामाजिक चेतना को एक नूतन विचार प्रदान किया। इन सबसे समाज का शुभ हुआ। तथापि इन भोले शोषितों की सरल बुद्धि अपने जीवन के बाधक या उत्पीड़न मर्यादाओं के प्रणयन के मूलभूत सिद्धांत, तात्कालीन तथा वर्तमान परिस्थितियों में उनकी उपयोगिता और औचित्य आदि की समीक्षा कर पाने में समर्थ नहीं होती और यथास्थिति को अपनी नियति मानकर उसे भोगने पर विवश होते हैं।

प्रस्तुत संदर्भ में उदित आंन्दोलन की स्फुरणा में संभावित

अवरोध मर्यादा बन्धनों की संकुलता के प्रति सचेत करती हुई ननद कहती है – "हेर दे भउजी कपाट के खिला" अर्थात जैसे प्रकोष्ठ के किवाड़ बंद कर संकल में कील स्वयं चढ़ाया जाता है, उसी प्रकार मर्यादा बन्धनों के प्रति स्वीकृति स्वयं तुम्हारी है। जब तक हम सुरक्षा की दृष्टि से कमरे में रहना चाहें, वह कील भी हमारी सुरक्षा का उपकरण है, इसी तरह जिस सीमा तक मर्यादा तुम्हारी सुरक्षा के लिए अपेक्षित है, वह तुम्हारा रक्षा कवच है और उसकी उपयोगिता असंदिग्ध है। परन्तु जब हम कमरे से बाहर जाना चाहें, सर्वप्रथम उस कील को निकालना होगा, फिर संकल खोलना पड़ेगा, तब फाटक खुलेगा और हम इच्छानुसार बाहर आ जा सकते हैं, लेकिन यदि हम उस कील को निकालने में लोकनिन्दा, निकृष्टता आदि के भय के कारण असमर्थता अनुभव करें, तब वह कील हमारा सुरक्षा उपकरण न होकर बंदीगृह का ताला बन जाएगा। ठीक इसी तरह नारी जाति, कृषक-श्रमिक, पिछड़ी जातियां प्रभृत्ति शोषित वर्ग की आत्मस्वीकृति उन मर्यादा बन्धनों के प्रति है, जो अपने ही घर में उनके जीवन को बंदीगृह के जीवन की तरह परवश कर रक्खा है। इन मर्यादा वृत्तों से उनकी सुरक्षा होती तो कहीं दिखती नहीं। हां, इनके जीवन की विवशताएं अवश्य दृष्टिगत होती हैं। कदाचित इन मर्यादाओं के विधान के मूल में प्रेरक भावना ही शोषणपरक रही हो। चूंकि इन मर्यादाओं की स्वीकृति आत्मकृत है, अतः परित्याग भी स्वकृत ही हो सकता है। परित्याग के प्रति साहस की न्यूनता स्वयं की है, अतः साहस का अर्जन भी स्वयं को ही करना होगा। कैसी विडंबना है, विवशता ने शोषित वर्ग को नहीं पकड़ा, शोषित वर्ग ने विवशता को पकड़ रखा है। उसको मुक्ति अन्य कोई कैसे कर सकता है, वह तो मुक्त है, बस आश्यकता है, कपाट के खिला निकाल देने की।

११. अमर्यादित मर्यादा-बंधन –

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में संस्कार रूप में पल्लवित

'मर्यादा' व्यक्तित्व निर्माण के लिए अपरिहार्य है । मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में भगवान श्री राम हमारे आदर्श हैं,जिन्होंने मर्यादा को अपने जीवन में शीर्ष स्थान दिया था । मर्यादा का संबंध तथापि एक तरफा भी नहीं होता । राजा दशरथ, गुरु वशिष्ठ, बंधु भरत और लक्ष्मण, भार्या सीता जी और आम जनता भी इससे संबंधित पक्ष हैं । पारिवारिक, सामाजिक, जन-जीवन में मर्यादा-बंधन एक स्वीकृत विधान है । यह एक ऐसा विधान है,जो सर्वजन सुखाय सर्वजन हिताय के लिए आवश्यक है । व्यवहार रूप में मर्यादा-बंधन सुखदाई और दुखदाई दोनों प्रकार से फलदाई हो जाता है । महाजन, नेतृत्व प्रदान करने वालों को इसके प्रति सावधान रहने की भी आवश्यकता है, अन्यथा मर्यादा का बंधन किंचित लापरवाही अथवा चूक या स्वार्थ आदि अन्याम्य कारणों से अमर्यादित होकर निंदनीय भी बन जाता है ।

फुगड़ी के रचनाकार की पीड़ा मर्यादा के प्रति नहीं, अपितु अमर्यादित व्यवस्था के प्रति है । विकृत मर्यादा बंधन अमर्यादित होकर बिनाशकारी हो जाता है, जिससे मोर-शावक जैसा दूसरा पक्ष घोर घुटन भरा जीवन बिताने के लिए विवश हो जाता है, जिसका परिणाम विद्रोह, सत्याग्रह आदि के रूप में सामने आता है ।

अंचल में व्याप्त सामाजिक कुरीति के प्रति आम लोगों की चिंता देखी जाती है । कुरीति ने समाज को जकड़ा है या समाज ने कुरीति को । वस्तुतः विचार करने से यही स्पष्ट होता है कि समाज ने ही कुरीति को ऐसा पकड़ रखा है,जिसे वह किसी मूल्य पर छोड़ने को तैयार नहीं । इस कुरीति के प्रति आम लोगों के मानस में घृणा-नफरत है । मर्यादा बंधन के नाम पर समाज ने दंड-विधान नामक जिस कुरीति को पाल रखा है,वह जन-जन के लिए दुखदायी हो गया है । परिवार का बड़ा रूप समाज है। समाज व्यक्तित्व विकास के अवरोधक रूप में दंड-व्यवस्था को प्रश्रय देता है । सामाजिक व्यवस्था के नाम पर आज जो कुछ देखा जा रहा है, वह मात्र दंड-

आदि से प्रसूत लौकिक सुख-दुख के हिचकोले खाता रहता है। जब सामाजिक मर्यादाओं की सीमा इतनी संकीर्ण हो जाए कि अखण्ड सत्य से व्यक्ति को पृथक कर दे, व्यक्ति अपने स्वाभाविक आनन्द घन स्वरूप से वंचित होकर लौकिक सुख-दुख से कष्टकारी जीवन का उपभोग करने के लिए विवश हो जाए, तो ऐसी मर्यादाएँ त्याज्य ही तो हैं। यही भगवान शिव का जीवन दर्शन है। वे व्यक्ति को मान्यता मर्यादाओं की संकीणता का उल्लंघन कर सहज-चिरंतन सत्य से साक्षात्कार करने के पक्षधर हैं। इसी रूप में वे मोक्ष दाता कहे जाते हैं। शिव जी की समग्र जीवन चर्या एक आह्वान है – "जो मान्यताएँ जो मर्यादाएँ तुम्हारे सहज जीवन को, स्वाभाविक अधिकार को वाधित करे उनका त्याग कर दो।"

मानव मन की एक अति सामान्य दुर्बलता होती है–वह अपनी किसी भी कृति, विचारधारा अथवा सिद्धांत को बुरा कहा जाना सहन नहीं कर सकता। क्रोध,लोभ,मोह,काम,ईर्ष्या, आदि दुष्प्रवृत्तियों के आवेग से उदभूत कोई भी वृत्ति अथवा व्यवहार प्रायः समाज द्वारा निकृष्ट मान्य श्रेणी के होते हैं। व्यक्ति सामान्यतः न तो अपने भावोद्वेग को नियंत्रित कर तत्जन्य कर्मों से उपरत होता है और न ही उन्हें निकृष्ट कहलाना सहन कर सकता। ऐसी स्थिति में वह मान्यता प्राप्त आदर्श जीवन-चरित या सिद्धांत का आश्रय लेकर किसी अंश विशेष की व्याख्या कर अपने वृत्तियों की अनुकूलता प्राप्त कर लेता है। अल्पज्ञतावश अथवा कुटिलतावश किए गए इस प्रकार भ्रामक व्याख्या से व्यक्ति अपने अन्तस के नैतिक मूल्यों तथा समाज के आलोचकों को संतुष्ट करने का प्रयास करता है। वह अपने प्रयास में सफल हो या न हो, परन्तु इससे एक आदर्श की विकृत प्रस्तुति अवश्य होती है, जिसका परिणाम सदैव घातक होता है।

विकृत मानसिकता की इसी परंपरा में कतिपय लोग "अपने

अमर्यादित आचरण के लिए औचित्य का प्रमाण प्राप्त करने के लिए शिव जी के मर्यादा नियामक स्वरूप का प्रस्तुतीकरण मर्यादा विरोधी शिव के रूप में करने लगे। "क्रमशः शिव जी मर्यादा विरोधी देव के रूप में प्रतिष्ठित होते गए। प्रतिक्रिया स्वरूप समाज में मर्यादा के पक्षधर भी उठ खडे हुए, जो मर्यादा संस्थापक के रूप में विष्णु को अपना इष्ट देव घोषित करने लगे। इस तरह आर्य जगत में शैव और वैष्णव दो क्रिया-प्रतिक्रियावादी वर्ग का अभ्युदय हुआ, जिनके संघर्ष की गाथाओं से आर्य जाति का इतिहास पर्याप्त दूषित हुआ है।

आर्य मनीषियों के गहनतम चिन्तन ने महामहेश्वर भूत भावन भगवान शिव तथा लोक और मर्यादा के पालक भगवान विष्णु के जिस स्वरूप की परिकल्पना की, उसे यथावत् समझने का प्रयास शैव और वैष्णव दोनों ने ही नहीं किया। मूलतः आर्य मान्यता के शिव न ही मर्यादा के घोर विरोधी हैं और न विष्णु मर्यादा के कट्टर समर्थक। शिव जहां विष्णु तथा उनके अवतार माने जानें वाले राम, कृष्ण आदि को अपना परम इष्ट मानते हैं, वहीं राम-कृष्ण तथा विष्णु शिव को अपना परम आराध्य मानकर सदैव पूजते रहे हैं। इस तरह शिव ने अपने जीवन दर्शन का उपसंहार इस रूप में प्रस्तुत किया है। एक सीमा तक मर्यादा की स्वीकृति अनिवार्य है, अन्यथा अनुशासन रहित स्वच्छन्द जीवन पशु तुल्य हो जाएगा। तथा विष्णु दर्शन की पूर्णता इस रूप में हुई है - मर्यादा बंधनों को अनावश्यक बहुलता व्यक्ति के व्यवहार क्षेत्र को अत्यंत संकीर्ण बनाकर उसके जीवन को सहज गति को बाधित करता है, अतः मर्यादाओं की सीमा अवश्य होनी चाहिए।

तथापि शिव दर्शन का वैशिष्ट्य अनावश्यक मर्यादा बंधनों का नियमन है, मर्यादा स्थापना नहीं। ननद अपनी भाभी के आराध्य को इसी विशेषता को रेखांकित करती हुई उसके अनुसरण का आह्वान करती है। वस्तुतः इष्ट आराधना का सम्यक स्वरूप भी वही होना

चाहिए कि उसे अपना आदर्श मानकर अपने जीवन को उसका अनुगामी बना दिया जाय, अन्यथा मात्र उसके मूर्ति की पूजा कर अपने आराधना को पूर्ण हुआ मान लेना आत्म-प्रवंचना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

इस तरह उनके आराध्य देव भगवान शिव के आदर्श की व्याख्या प्रस्तुत कर ननद अनपेक्षित मर्यादा बन्धनों को अस्वीकार कर उस अखण्ड सत्य, सहज मानवीय अधिकार से साक्षात्कार का प्रारूप उपस्थित करती है।

प्रस्तुत संदर्भ में वाचिका एक ननद है और सम्बोधिता एक भाभी। भाभी समग्र रूपेण मुख्यतया वधु है, मात्र परिवार की नहीं, पूरे समाज की। वह नारी है, ग्राम्य वधु होते हुए संभवतः कृषि-श्रमिक है और कदाचित उस वर्ग की है, जो प्रायः गांवों में रहती है शोषित-दलित और उपेक्षित। इस तरह वह अकेली ही शोषितों के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है, और रचनाकार ने ननद के द्वारा उसे जो कहलाया है, वह सम्पूर्ण शोषित जगत से अभिप्रेत है।

भाभी मर्यादा पीड़ितों का तो उत्कर्ष है। वधु के रूप में मर्यादाओं का सर्वाधिक बोझ उस पर ही तो होता है। उसे दोनों कुल की लाज कहा जाता है अर्थात उसे पितृकुल की प्रतिष्ठा का वहन करना होता है, साथ हीं ससुराल में उसे पहनने में, बोलने में, कहीं आने जानें में, प्रत्येक व्यक्ति से व्यवहार में, किंवा खाने पीने में भी मर्यादित रहना पड़ता है। परिवार के बड़ों के समक्ष मर्यादा तो व्यावहारिक है, परन्तु वधु को अपने परिवार, अन्य सम्बन्धी तथा गांव में पड़ोस के प्रौढ़ों से लेकर बालकों तक के प्रति व्यवहार में मर्यादा का वरण करना पड़ता है। इनके अतिरिक्त समूचा समाज वधु के व्यवहार का मान्यता प्राप्त निरीक्षक होता है।

इस प्रकार मर्यादा बन्दिनी ग्राम्य वधु को संबोधित कर प्रकारांतर से सम्पूर्ण शोषित-पीड़ित वर्ग का आह्वान सूत्रात्मक कथ्य का

सफल प्रयोग है। पुनश्च यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि भाभी को प्रेरित करने वाली एक ननद है, जो वधु के मर्यादा निरीक्षक वर्ग का स्वयं ही एक घटक है। निरीक्षक ही मर्यादा उल्लंघन की प्रेरणा दे, तो मर्यादा का अनौचित्य स्वयं सिद्ध हो जाता है। साम्य संबंध से यह प्रेरणा देवरानी, जेठानी, अथवा पड़ोस की ग्राम्य वधु भी दे सकती थी, परन्तु उस प्रेरणा में वह शक्ति न होती, क्योंकि वह भी तो वधु वर्ग की होती, अतः उसकी प्रेरणा को वर्ग विद्वेष की अभिव्यक्ति का आरोप लगाकर अन्य सहज मानवीय भावनात्मक दुर्बलता की श्रेणी में रखते हुए बौद्धिक दृष्टि उपेक्षणीय मान लेती। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में प्रेरिका स्वरूप ननद की नियुक्ति कर रचनाकार एक ओर प्रेरणा को प्रामाणिकता प्रदान करने का प्रयास करता है, वहीं दूसरी ओर सम्बोध्य पक्ष में ग्राम्य वधु को प्रतिनिधित्व प्रदान कर समस्त शोषित वर्ग को प्रेरित करना चाहता है। कदाचित यही उसके उद्देश्य की सफलता है।

१२. मर्यादा-बंधन का परित्याग

"एक गोड़ मँ लाल भाजी,
एक गोड़ मँ कपूर ।
कतेक ल मानँव मय,
देवर ससूर ॥

शब्दार्थ – अब एक पग (गोड़) में लाल भाजी होगा और दूसरे पग में कर्पूर होगा। कहां तक मैं देवर-ससुर की मर्यादा स्वीकार करती रहूँ।

प्रस्तुत फुगड़ी गीत के पूर्व पंक्तियों में सामाजिक कुव्यवस्था जन्य शोषण, शोषित वर्ग का असंतोष, शोषितों का वर्ग प्रतिनिधि - ग्राम्य वधु द्वारा सत्याग्रह का संकल्प, संकल्प के प्रति समर्थन प्रेरणा

का सजीव चित्र उत्कीर्ण किया गया। चींव चांव करे .... कपाट के खिला, में निहित अर्थों की गहराई में पहुँचकर प्रतीत होता है कि ननद का सत्याग्रह के संकल्प के सफल क्रियान्वयन के प्रति अति प्रबल आग्रह है। अतः वह न केवल अपनी भाभी की इच्छा शक्ति को उद्दीप्त करने का प्रयास करती है, अपितु स्थापित मर्यादा अवरोधों के उल्लंघन की सशक्त प्रेरणा देती है।

कदाचित इसका यथेष्ट प्रभाव ग्राम्य वधु की संकल्प शक्ति पर पड़ा और वह दृढ़तर होकर प्रस्तुत शब्दों में प्रतिमूर्त होता है अथवा संकल्प के प्रति एकान्तिक निष्ठा इतनी दृढ़ है कि चेतना ननद के उद्बोधन को सुन सकने की स्थिति में नहीं, यदि सुन भी रहे हो, तो उन्हें समझने योग्य नहीं और समझ रहे हों, तो इन उद्दीपन-प्रेरण को वह अनावश्यक मान उपेक्षा कर देती है और वह अपनी ही धुन में कहती चली जाती है – एक गोंड़ मँ .... देवर ससुर।

समूचे गीत की तरह उक्त पंक्ति में भी उद्देश्यपरक शब्द लाल भाजी, कपूर और देवर ससूर का प्रयोग भी सूत्रात्मक रूप में हुआ है, जो अपने में सांकेतिक अर्थों के अनेक मनके पिरोए हुए हैं।

गमन क्रिया में दो पैरों की अपेक्षा होती है। इसी स्वाभाविक स्थिति के समानान्तर वाचिका ग्राम्य वधु अपने जीवन पथ पर चलने के लिए दो पगों की परिकल्पना की है, जिनमें से एक पग को लाल-भाजी से युक्त और दूसरे को कपूर मय बनाकर रखने का निश्चय व्यक्त करती है। यह उसकी अपनी जीवन मीमांसा है।

लाल भाजी रचना स्थली छत्तीसगढ़ के गांवों में सुलभ एक सस्ता पत्र शाक है। षड्रस व्यंजनों की सूची में स्वाद की उत्कृष्टता के क्रम में इसका स्थान कदाचित अंतिम छोर में लिखा जाए, तथापि खनिज लवण, विटामिन, आदि पोषक तत्वों की प्रचुरता के कारण पोषक की दृष्टि से यह उपयोगी है। इसका रंग लाल होता है और

जिस भोज पदार्थ से इसका संपर्क हो जाए, उसे भी अपने रंग में रंग लेता है, यह इसकी अपनी ही विशेषता है ।

कर्पूर एक सुगंधद्रव्य है । इसका वर्ण श्वेत होता है । मुख्यत: इसका उपयोग पूजन सामग्री के रूप में, आरती की बाती बनाकर किया जाता हैं । चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से कपूर निर्जीवाणुकारक, स्फूर्तिदायक, हृदय व मस्तिष्क को उत्तेजना प्रदान कर प्राण रक्षा करने वाला होता है ।

लोक मानस में लाल भाजी की प्रतिष्ठा एक सुलभ और सस्ता पत्रशाक के रूप में ही है । क्रान्ति के लिए कृतसंकल्प ग्राम्य वधु की जीवन मीमांसा में इसका प्रतीकात्मक प्रयोग जीवन संधारण के लिए आवश्यक न्यूनतम भोगों को अभिव्यक्त करता है । तथा जीवन के द्वितीय पक्ष के रूप में कपूर का प्रयोग जीवन की आध्यात्मिकता का द्योतक है । इस तरह वह जीवन के प्रथम पक्ष में अपेक्षित न्यूनतम पोषण के अर्जन को अनिवार्य मानती है । वहीं शेष जीवन में अध्यात्मिकता का सन्निवेष कर पूर्णता की कल्पना करती है । महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि प्रथम उसने लाल भाजी कहा पश्चात् कर्पूर स्पष्ट है वह इस यथार्थ-बोध से अनभिज्ञ नहीं कि - मानव जीवन दो तले भवन की तरह है, जिसका भूमि तल जीवन की मूल भूत भौतिक आवश्यकताएँ हैं तथा दूसरा पक्ष नैतिक, दार्शिनिक, आध्यात्मिक अथवा कलात्मक आदि । भूमि तल का निर्माग किए बिना दूसरे तल के निर्माण की कल्पना नहीं की जा सकती । इसी प्रकार प्रथम जीवन संधारण अपेक्षित है जीवन संधारण के लिए मूल-भूत आवश्यकता कीं आपूर्ति अनिवार्य है । तदन्तर ही मानव आध्यात्मक, दर्शन, कला आदि विषय में सोच सकता है । पुनश्च .... एक तले का जीवन-भवन अपूर्ण है । मात्र पोषण, वर्धन, प्रजनन, उत्सर्जन, आमोद-प्रमोद में रत जीवन पशुत्व से श्रेष्ठ कदापि नही, ये सब तो पशु भी करते हैं ।

इस जीवन मीमांसा की संकल्पकर्तृ वह ग्राम्य नारी है जो गूदा बीजा के अनुपात में वितरणव्यवस्था से असंतुष्ट है। वितरण का लक्षणात्मक अर्थ है परावलम्बन, जिसका परिणाम है बीजा मात्र की उपलब्धि। क्रान्ति के परिप्रेक्ष्य में वह उस व्यवस्था का स्थानापन्न स्वावलम्बन युक्त जीवन को स्वीकार करती है। लाल भाजी की तरह सरल, सादगीपूर्ण, वैभव-विलासिता से रहित मात्र जीवन की न्यूनतम आवश्यकता की आपूर्ति करने वाला। लाल भाजी की उपलब्धि में परमुखापेक्षी की आवश्यकता नहीं, यह ग्राम्यजनों को सहज सुलभ है। परावलम्बन नहीं, वितरण की विसंगति नहीं, असंतोष का दाह नहीं।

पूर्ण मनोयोग से उद्यम करने पर विलासितापूर्ण जीवन के लिए वैभव-ऐश्वर्य की उपलब्धि कदाचित संभव हो, परन्तु इस तरह जीवन का आध्यात्मिक पक्ष अति न्यून अथवा निशेष हो जाएगा, जो इस जीवन दर्शन की प्रणेत्री को अभीष्ट नहीं।

वह अपने जीवन के द्वितीय पक्ष को कर्पूर की तरह बनाए रखना चाहती है, जो आरती-विधान में बाती बनकर आराधक के आत्म निवेदन का प्रतीक होता है। आरती शब्द की व्युत्पत्ति "आर्त" से हुई है। आर्त प्राणी जब अपनी व्यथा का वर्णन करते हुए उसके निराकरण के लिए कातर स्वर में अपने आराध्य को पुकारता है, तो उसका आर्तनाद आरती बन जाती है। आरती में पवित्र बाती जलती है और अन्ततः अपना अस्तित्व खोकर भस्म बन जाती है, यही प्रपत्ति या शरणागति का तात्विक स्वरूप है। आत्म-निग्रह ही प्रपत्ति का उत्कर्ष है। प्रस्तुत जीवन मीमांसा में जीवन संधारण के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए स्वालम्बन का आदर्श स्थापित कर जीवन की पूर्णता "सर्व धर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" में देखी गई है।

जीवन के एक पक्ष में रक्तवर्ण लाल भाजी और शुभ्रवर्ण

के प्रतिष्ठापन के उद्घोष में एक तात्पर्य यह भी सन्निहित है –

सृष्टि त्रिगुणात्मक है, सत्व का प्रतीक श्वेत वर्ण, रजोगुण का प्रतीक रक्त वर्ण और तमोगुण श्याम वर्ण से व्यक्त होता है। सत्व गुण के कारण ज्ञान का प्रकाश होता है, रजो गुण के कारण वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं तथा तमोगुण से अज्ञान का अँधकार, मोह, आलस्य की उत्पत्ति होती है। ज्ञान के प्रकाश में जब तत्व दर्शन होता है, तब व्यक्ति का अहं बोध व्यापक हो जाता है, व्यष्टि चेतना समष्टि चेतना में विलीन हो जाती है। आत्मा को अनुभूति होने लगती है – सर्वं ब्रह्म - "सोऽहं"। परत्व-अपरत्व समाप्त हो जाता है। कामना और तज्जन्य वृत्तियों का उपशम हो जाता है। कुछ भी करने को शेष नहीं रह जाता, परन्तु व्यवहार जगत में – "न हि कश्चित्क्षमपि जातु तिष्ठस्य कर्मकृत" अतः कर्म तो होते हैं, किन्तु कामना से रहित, मात्र प्रकृति के गुण-रज से प्रेरित। इस प्रकार के कर्म निष्काम होते हैं, अतः इनमें स्वार्थजन्य कलुषिता नहीं होती, मात्र लोक संग्रहार्थ कर्म होते हैं।

हम अपने नित्य व्यवहार में देखते हैं – वृत्तियाँ सत्संग पाकर सदाशयी हो जाती हैं और कुसंग के प्रभाव से कुत्सित हो जाती हैं। यही सिद्धांत त्रिगुण व्यापार के संदर्भ में भी लागू होता है। रजो गुण सत्व के साथ रहकर हमारी जीवन यात्रा को सन्मार्ग पर ले जाता है। परन्तु तम के सान्निध्य से अहंकार, मोह, द्वेष, अज्ञान का परिपोषण करने लगता है। अतः फुगड़ी गीत की नायिका ने अपनी जीवन-मीमांसा में "कपूर" के संकेत से सत्व गुण और लाल भाजी के निहित अर्थ के रूप में रजो गुण को स्थान दिया है। उसकी यह अवधारणा प्राच्य जीवन दर्शन के महामन्त्र "मामनुस्मर युद्धश्च" के समान्तर ही है। योगीश्वर श्री कृष्ण का मामनुस्मर से तात्पर्य "सर्वात्म बोध -सर्व खल्विदं ब्रह्म सोऽहमस्मि" से है, जो सतो गुण की पूर्णता है तथा उसी अनुभूति के अन्तर्गत "युद्ध च" निष्काम कर्म योग का उपदेश

है, जो रजो गुण की अभीष्ट अभिव्यक्ति है।

तथापि सृष्टि में तमो गुण के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, द्विगुणात्मक नहीं हो सकती। जीवन में तमोगुण की विद्यमानता अवश्य रहेगी। यदि इसका समुचित समायोजन किया जाए, तो यह भी श्रेयस्कर हो सकता है। निःसंदेह यह अति दुष्कर कार्य है। अतः इस जीवन दर्शन की प्रणेत्री अपने आराध्य देव शंकर जो स्वयं तमो गुण के अधिष्ठाता देवता हैं, के जीवन आदर्श का अनुसरण करते हुए अपने जीवन में तमो गुण का समायोजन इस रूप में किया :-

"कतेक ल मानवं मय देवर ससूर"

पुनश्च लाल भाजी का रक्त वर्ण वीरता, बलिदान और प्रेम का प्रतीक है तथा कर्पूर को श्वेत वर्ण सत्य का संकेत माना जाता है।

लाल भाजी की अपनी ही विशेषता है – उसके संपर्क में जो भी वस्तु आता है, उसे वह लाल रंग में रंग देता है सिवा कृष्ण वर्ण के। यही गुण प्रेम का भी है। कपटी हृदय के अतिरिक्त अन्य जो भी उससे संपृक्त होता है, उसे वह प्रेम रंग में रंग लेती है, अन्यथा प्रेम प्रेम नहीं रह जाता, वह अस्तित्व ही खो देती है। प्रेम सदा सापेक्ष होता है। परन्तु यह लौकिक प्रेम की प्रकृति है – प्रेम जब व्यापक हो जाता है; तब वह निरपेक्ष होता है, उसका कोई वर्णात्मक लक्षण नहीं रह जाता, वह सत्य स्वरूप हो जाता है। कर्पूर की तरह श्वेत वर्ण। प्रेम की यह पूर्णता, सत्य से सारूप्य ही कदाचित इस जीवन मीमांसा की उत्कर्ष अवस्था है, जो लाल भाजी से आरंभ होकर कर्पूर में परिणत होती है।

सुसंस्कृत वीरता आत्माहुति कर आश्रितों का रक्षण व पोषण करती है। ठीक ऐसी ही लाल भाजी आत्म बलिदान कर अपने आश्रितों

(खाने वालों) का जीवन संधारण व पोषण करती है। तथापि वीरता में हिंसा के समावेश की प्रबल संभावना होती है, अतः धर्म, युद्ध के योद्धा अनावश्यक रक्तपात "हिंसा" के प्रतिकार के लिए श्वेत पताका लहरा कर संधि का आह्वान कर देते हैं, यह प्राचीन परंपरा है। प्रस्तुत जीवन दर्शन का अभिप्रेत वह सत्य तत्व है, जिसे प्राप्त कर लेने के बाद कुछ भी पाने को शेष नहीं रह जाती। लाल भार्जी से कपूर तक की 'साधना-यात्रा' समाप्त हो जाती है, समस्त साधन विसर्जित कर दिए जाते हैं और संधि सत्य की घोषणा कर दी जाती है।

प्रस्तुत संदर्भ में नायिका शोषण के विरुद्ध संघर्ष रत एक नारी है, जो एक पग में संघर्ष के प्रति अपनी तत्परता, बलिदानो की भाँति निर्भीकता तथा मंजूर पिला की भाँति शत्रुहन्ता तेजस्विता का उद्घोष लाल भाजी के माध्यम से करती है, वहीं दूसरे पग में कर्पूर का उद्घोष कर सत्य की सिद्धि हो जाने पर न्यायोचित स्वत्व प्राप्त हो जाने के पश्चात अनावश्यक हिंसा-प्रतिहिंसा के निराकरण के लिए संधि का संकल्प भी व्यक्त कर देती है। पश्चात यह शोषक वर्ग पर निर्भर करता है, वह इस सत्य/संधि को कब तक स्वीकार करेगा।

वह संघर्षकाल में संभावित बंधन प्रचलित सामाजिक-पारिवारिक मर्यादाओं के प्रति भी सतर्क है और कहती है –

"कतेक ल मानवं मय देवर ससूर"

शब्दार्थ – कतेक ल = कहां तक
मानवँ = मानूं
मय = मैं
देवर ससूर = देवर ससुर
कहां तक मैं देवर – ससुर मानती रहूं।

भावार्थ – भारतीय जीवन-व्यवस्था में नारी का जीवन अतिक्लिष्ट

है, विशेषकर ससुराल में आकर वधु के रूप में तो उसे तलवार की धार पर चलना होता है। उसे प्रतिक्षण मर्यादा का पालन करना पड़ता है, चलने-फिरने, उठने-बैठने, हँसने-बोलने, पहनने-ओढ़ने, किंवा खाने-पीने में भी उसके लिए मर्यादा निर्धारित है। बड़ों के साथ व्यवहार में उसे लज्जा का पालन करना पड़ता है, उन्हें आदर देना होता है, और आदरणीयों का उत्कर्ष "ससूर" होता है तथा दूसरी ओर छोटों के प्रति व्यवहार में इच्छा या अनिच्छा से स्नेह और सेवा-भाव का प्रदर्शन करना पड़ता है – इस वर्ग का प्रतिनिधि होता है – देवर। स्वत्व में परस्पर भागीदारी के कारण उसे सर्वाधिक आलोचना का भय देवर से होता है अत: मर्यादा के उत्कर्ष देवर और ससुर का उल्लेख कर नायिका ने नारी पर आरोपित मर्यादा का सीमांकन किया है।

मर्यादा की परिकल्पना एक सामाजिक अनुशासन के रूप में की जाती है, जो समाज के प्रत्येक घटक के लिए निर्धारित होती है। इस अनुशासन का पालन एक ओर समाज के समुचित संचालन के लिए आवश्यक होता है, वहीं अनुशासित व्यक्ति के लिए सामाजिक सुरक्षा भी सुनिश्चित करती है। परन्तु जब मर्यादा बंधन का संतुलन विकृत हो जाता है, सुरक्षा के नाम पर बंधन का अतिरेक हो जाता है, तब वह मानव के सामान्य जीवन व्यवहार को बाधित करने लगता है। उसके मूल मानवीय अधिकारों (जो सत्य स्वरूप है) का हनन करने लगता है, तब इसका औचित्य समाप्त हो जाता है। सुरक्षा के नाम पर किसी सैनिक पर इतने अधिक कवच लाद दिए जाएँ, कि उसका चलना-फिरना भी कठिन हो जाए, तो उसका क्या औचित्य है।

भारत की नारी किंवा सम्पूर्ण शोषित वर्ग भी मर्यादा बंधनों की अधिकता से पीड़ित सुरक्षा तथा कथित सुरक्षा कवचों के बोझ से दबा हुआ अपने मौलिक अधिकारों से वंचित है। वह जब भी अपने

सहज स्वत्व के लिए संघर्ष करना चाहता है, ये बंधन उसे बाधित करते हैं, वह इसे तोड़नें की क्षमता रखते हुए भी तोड़ नहीं पाता। क्योंकि इसे सामाजिक मान्यता प्राप्त है। इसका उल्लंघन समाज द्रोह कहलाएगा और विद्रोह का साहस उनके पास संचित नहीं।

इस अवस्था में नायिका अपने आराध्य भगवान शिव के जीवन दर्शन को अपना आदर्श मानते हुए, साहस का संचय करती है और निर्भीक होकर समाज द्वारा स्थापित मर्यादाओं के अतिरेक को उतार फेकनें की मानसिकता प्रदर्शित करती है।

कहां तक मैं देवर-ससुर मानूं अर्थात मर्यादा बंधन स्वीकार करती रँहू। इस भावाभिव्यक्ति में यह तथ्य स्पष्ट है, नायिका को देवर-ससुर (मर्यादा) मानने से पूर्णता: आपत्ति नहीं है, वह एक सीमा तक इसे स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत है। परन्तु अतिरेक का प्रतिकार अपनी विवशता मानती है, क्योंकि स्वत्व प्राप्ति के संघर्ष में यह अपरिहार्य है। अब समाज उसके इस व्यवहार को किस रूप में ग्रहण करता है, "समाज द्रोह मानता है या विकृत परंपराओं का स्थानापन्न एक आदर्श की स्थापना "इसे समाज पर छोड़ती है, स्वयं को इस ओर से निश्चिन्त रखती है।

इस तरह वह सम्पूर्ण शोषित वर्ग को अपने सहज स्वत्व की प्राप्ति का मार्ग – "अनावश्यक और अनुचित मर्यादा बन्धनों का परित्याग कर सत्य और शौर्य के दो पैरों में खड़ा होकर संघर्ष", का आह्वान करती है और स्वयं जीवन संग्राम में कूद पड़ती है – फुगड़ी के फूं फुगड़ी के फूं।

ग्राम्य बालाओं का समूह एक बड़े गोल घेरे में बैठ जाती है, अपने दाहिने हाथ की अँगुलियां सामने की धूल पर चाप वत् रेखा में फिराते हुए गाती हैं –

गोबर दे बछरू गोबर दे ।

कतेक ल मानँव भय देवर ससूर ।।

पश्चात एक झटके से कमर को उचका कर चारों हाथ-पांव फैला लेती हैं, दाहिना पैर और बांया हाथ सामने तथा बांया पैर और दांया हाथ पीछे ले जाती हैं पुनः दूसरे झटके में कमर से ऊपर सम्पूर्ण शरीर उछालते हुए दाहिना पैर और बांया हाथ पीछे कर लेती हैं और बांया पैर तथा दाहिना हाथ आगे, यह क्रम चलता जाता है। प्रतियोगिता की भावना से मुंह से उच्चारण करती रहती हैं – फुगड़ी के फूं फूं फुगड़ी के फूं

कदाचित छत्तीसगढ़ की ग्राम्य नारी जीवन-संघर्ष का पूर्वाभ्यास बाल्यावस्था से ही आरम्भ कर देती है। परन्तु विडम्बना यह है कि वधु के रूप में देवर-ससुर की मर्यादाओं में बँधकर वह उसे ही अपनी नियति मान लेती है। प्रति वर्ष तीज उपवास का व्रत भी रखती है, पर भगवान शिव के जीवन दर्शन को आत्मसात नहीं कर पाती।

परिशिष्ट

छत्तीसगढ़ी लोकगीत

प्रत्येक देश की संस्कृति का मूल उत्स वहां के लोक-जीवन में परिव्याप्त है। भारतीय संस्कृति में भी लोक-जीवन की व्याप्ति है। लोक जीवन में समाविष्ट संपूर्ण भावात्मक एवं सृजनात्मक सामग्री विकास , मान्यताएँ, परंपराएँ, प्रथाएँ और रीतियाँ लोक-वार्ता कहलाती हैं। 'लोक साहित्य' इसी 'लोक वार्ता' का एक अंग है। सामान्य जनता के हर्ष और अवसाद पूर्ण क्षणों एवं सुख-दुख पूर्ण मन स्थितियों का अत्यंत स्वाभाविक निरूपण लोक साहित्य में रहता है। लोक साहित्य के अंतर्गत लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा, लोकनाटय, पहेलियाँ, मुहावरे, लोकोक्तियाँ इत्यादि का समावेश रहता है। मानव-भावनाओं के कोमल सहज और रसात्मक अभिव्यक्ति का जो प्रभावकारी प्रमाण लोकगीतों में उपलब्ध होता हैं, वह अन्यत्र कहीं भी सुलभ नहीं है। लोकगीत जन-मानस से उत्पन्न हर्ष-विषादमयी भाव -धाराओं का व्यक्त रूप है। हृदय का सुख-दुख जब स्वरों में साकार होता है, तब लोकगीत की सृष्टि होती है। सरलतम जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियाँ लोकगीतों में प्रश्रय पाती हैं ।

'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के अनुसार – लोकगीत मानव जाति के हृदय से अपने अभावों द्वारा जन्मी, प्रकृति प्रदत्त धूली द्वारा सहसा घुमड़कर प्रकट होने वाली उल्लासमय लहरी हैं जो हृदय का भार हल्का करने के लिए भावों की अभिव्यक्ति हेतु बोलने की अपेक्षा गाकर गीतों द्वारा व्यक्त होती है।

छत्तीसगढ़ भारत के हृदय स्थल में विद्यमान है। भारत में उत्तर की आर्य संस्कृति और दक्षिण की अनार्य यानी द्राविड़ संस्कृति को मिलाने वाला यह अंचल एक मिश्रित संस्कृति का अनुपम उदाहरण है। यह यहां के लोकगीतों में परिलक्षित होता है।

लोकगीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह मानव मन की सहज अनुभूति का आंकलन है अर्थात यह आवेगों के साथ ही मनुष्य के मुख से बोल के रूप में फूट पड़ते हैं और यही गीत का रूप धारण कर लेते हैं। इसमें देश एवं काल का बंधन नहीं होता। कहीं भी किसी भी क्षण इसका सृजन हो जाता है।

इनमें प्राकृतिक सौंदर्य का महत्वपूर्ण स्थान है । तथा इनसे लोकगीतों को रचने की प्रेरणा मिलती है । इनमें संगीत, नृत्य, तथा अन्य क्रियाकलापों का समावेश रहता है। ये शाश्वत तथा अक्षुण्ण होते हैं । इनमें जीवनी शक्ति होती है। अर्थात सामाजिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप इसमें भी परिवर्तन दिखाई देता है, इसमें वैयक्तिक चित्रण के साथ-साथ सामूहिक चित्रण भी किया जाता है। इसमें अपनी भूमि की संस्कृति, सभ्यता, धार्मिक भावना, रीति-रिवाज, लौकिक व्यवहार, जनचेतना जैसे तत्वों का रूप दृष्टिगोचर होता है। यह सरस, सजीव, एवं सहजाभिव्यक्ति है। इसमें शब्दों की कृत्रिमता नहीं होती तथा लाक्षणिक भाषा का प्रयोग न होकर व्यावहारिक भाषा का प्रयोग होता है।

लोकगीतों में संयोग श्रृंगार तथा वियोग श्रृंगार दोनों का चित्रण मिलता है। इसमें नारी की दशा का भी वर्णन मिलता है। इसमें सामाजिक तत्वों का प्राधान्य होता है। इनमें कृषक जीवन की विपन्नता एवं अभाव का चित्रण भी पाया जाता है। कहीं कहीं शोषण से आक्रोश की भावना को विवेच्य विषय बताया गया है, तो कहीं-कहीं संघर्षमय जीवन की गाथा का वर्णन किया गया है। श्रम परिहार के लिए भी लोकगीतों का सृजन हुआ है। छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में उत्सव-ऋतु की प्रधानता भी मिलती है। ताल-लय भी गीतों में सम्यक स्थान रखता है। छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में प्रतीकात्मकता परिलक्षित होती है।

छत्तीसगढ़ की बहुप्रचलित प्रमुख लोकगीतों को निम्नलिखित क्रम से उदाहरण सहित परिगणित किया गया है। :-

सुआगीत :-

यह नारियों का गीत है। सुआ का तात्पर्य तोता होता है। सुआ को संबोधित करते हुए गीत गाया जाता है तथा नृत्य किया जाता है। यह गीत दीपावली के अवसर पर प्रमुखतया गाया जाता है नृत्य करते समय स्त्रियाँ तालियाँ बजाती हैं। सुआगीतों में नारी जीवन के कारुणिक प्रसंगों को चित्रित किया जाता है। इन गीतों में नारी उत्पीड़न नारी से उपजी नारी हृदय की वेदना अभिव्यक्ति होती है यथा :-

१. तरी नरी नहना ओ तरी नरी नहना
कि तरी नरी न ह ना रे ना
ना रे सुवना कि तरी हरी न ह ना रे ना
पइयां परत हौं मैं चन्दा सुरुज के
मोला तिरिया जनम झनि देय ना रे सुअना
तिरिया जनम अति कलपना ना रे सुआ ना
मोला तिरिया जनम झनि दे।

२. देवर-भाभी के पारस्परिक संबंधों का चित्रण इस गीत में मिलता है-

पहिली गवन के डेहरी बैठारे
छांड पिया जाथें बनिज ब्योपार
काकर संग खइहौं, काकर संग खेलिहौ
का देख रहिहौं मन बांध
अंगना लगा ले तैं तुलसी के बिरवा
ओला देख रह मन बांध
तुलसी के बिरवा हरियर हरियर
मोर राजा करत बनीज
तुलसी के बिरवा झुरमुर झुरमुर
मोर पिया गय रन जूझ
छोटे देवर मोर बड़ मटकुरिया
छैंकत है मोर दुवारे
सोवा परत म फरिका ले पेले
बंचि है कैसे धरम हमार
भारी नागिन मोर मितानिन
रात रहे संग आय
कार्तिक लगे तोर अइहैं सजनवा
जलहिं जोत बिसाल
तरि हरि नाना री नाना

३. यह सुआ गीत प्रश्नोत्तर शैली में प्रस्तुत किया गया है–

कहवा ले आवय मोर सुवना ओ सुवनी
एक लाली एक पियरी
अउ कहवा ले आवय सुंदर छोकरी
चमक भुजा सिर गगरी
रइपुर ले आथे मोर सुवना ओ सुवनी
धमधा ले आवय सुघर छोकरी
चमक भुजा सिर गगरी
का काम आथे मोर सुवनी अउ सुवना
एक लाली एक पियरी
अउ का काम करथे सुघर छोकरी
चमक भुजा सिर गगरी
बचना सुनाथे मोर सुवनी अउ सुवना
एक लाली एक पियरी
पानी भरे के सुघर छोकरी
चमक भुजा सिर गगरी

भोजली गीत

भोजली नारियों का पर्व है यह श्रावण माह में नागपंचमी से प्रारंभ होकर रक्षाबंधन केदिन समाप्त होता है। नागपंचमी के दिन भोजली उगाई जाती है और रक्षाबंधन के दिन विसर्जित की जाती है। भोजली गीतों में देवी की स्तुति तथा महिमा का वर्णन किया जाता है। नारियों के समवेत स्वर में जब भोजली गीत गाए जाते हैं। तो संपूर्ण वातावरण भक्तिमय हो जाता है। भोजली गीत बहुत ही कर्णप्रिय होते हैं। छत्तीसगढ़ में प्रचलित यह भोजली गीत द्रष्टव्य है–

अहो देवी गंगा,
देवी गंगा, देवी गंगा, लहर तुरगा
हमर भोजली दाई के भीजे आठो अंगा ॥

आई गईस पूरा, बोहाई गइस कमरा
हमर भोजली दाई के सोने सोन के अँचरा ।।
आइ गईस पूरा, बोहाई गईस मलगी
हमर भोजली दाई बर सोने सोन के कलगी ।।
कुटी डारेन धान पछोरि डारेन भूसा
लड़के लड़का हवन भोजली झन होहु गुस्सा ।।
पानी बिन मछरी, पवन बिन धान
सेवा बिन भोजली के तरसे परान ।।
माड़ी भर जोंधरी, पुरुस भर कुसियार
जल्दी-जल्दी बाढ़व भोली होवव हुसियार ।।
दूध मांगेन पूर मांगेन
अउ मांगेन असीस
जुग-जुग जिवय भोजली, लाख बरीस
अहो देवी गंगा .. ...

जँवारा गीत -

छत्तीसगढ़ में नवरात्रि पर्व बड़े धूमधाम तथा उत्साहपूर्वक मनाया जाता है। यह पर्व वर्ष में दो बार मनाया जाता है। क्वाँर शुक्ल प्रतिपदा से नवमीं तक तथा चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से नवमीं तक मनाया जाता है।

क्वाँर के पर्व को शारदीय जँवारा पर्व तथा चैत्र के पर्व को वसन्तीय जँवारा पर्व कहा जाता है। छत्तीसगढ़ अंचल में जँवारा गीत धार्मिक परंपराओं तथा पूजापाठ में गाया जाता है। जँवारा गीतों में प्रकृति की सुकुमारता का चित्रण होता है। इसमें देवी की स्तुति तथा महिमा का चित्रण रहता है। जँवारा गाते समय गाने वालों को देवी चढ़ जाती है और वे अपने शरीर को यातना देते हैं। देवी की कृपा से उन पर कुछ असर नहीं होता।

तुम खेलौ दुलरुवा रन बन रन बन रे।

काकर देव हे बल बरमदेव
काकर देव गौरइया
काकर देव है बन कस रकसा ।।
ब्राम्हन देव है लाल बरमदेव,
रावत देव गौरइया,
जब धोबिया देवता बन कस रकसा ।।
का पूजा लेवे तोर बाल बरमदेव,
का पूजा लेवे गौरइया,
का पूजा लेवे तोर बन कस रकसा ।।
नरियर लेवे तोर बाल बरमदेव
बोकरा लेवे गौरइया,
होम धूप लेवे तोर बन कस रकसा ।।
तुम लेलौ दुलरुवा रन बन में ---

माता सेवा -

छत्तीसगढ़ में जब व्यक्तियों को चेचक निकलता है, तो उस समय माता देवी का गीत गाया जाता है। चेचक निकलने पर उसे माता के रूप में देखा जाता है। और चेचक को शांत करने के लिए गीत गाया जाता है। छत्तीसगढ़ में प्रचलित माता सेवा का यह गीत द्रष्टव्य है –

माता फूल गजरा ।
गूंथव हो मालिन के देहरी हो, फूल गजरा ।।
काहेन फूल के गजरा काहेन फूल के हार
काहेन फूल के तोर माथ मटुकिया, सोलहों सिंगार ।
चम्पा फूल के गजरा, चमेली फूल के हार
मोंगरा फूल के माथ मटुकिया सोलहों सिंगार ।।
कोन माय बर गजरा, कोन माय बर हार ।
कोन माय बर माथ मटुकिया, सोलहों सिंगार ।।
कोदइया माय बर गजरा, धनइया माय बर हार।

बूढ़ी माय बर माथ मटुकिया, सोलहों सिंगार ।।

ददरिया –

इस गीत का प्रमुख भाव यौवन का प्रेम, मादकता एवं संयोग-वियोग की अनुभूति ही हैं । यह यौवन का गान है । लोकगीत की यह उल्लास वस्था है तथा प्रेम इस की भूमिका है ।

आमा गिराएँव, खाहुँच कहिके ।
कइसे दगा देय राजा, आहुँच कहिके ।।
चना रे फूटेना फुटत नइए ।
बालपन के चिन्हारी छुटत नइए ।।
तवा के रोटी सेंकत रहितेंव ।
तोला आगू में बैठा के देखत रहितेंव ।।
मछरी के रांधे बर मही तो नइए ।
दिल खोल के बता दे कोनो तो नइए ।।

पंडवानी –

पंडवानी से आशय पांडवों की कथा से है । छत्तीसगढ़ में प्रचलित पंडवानी महाभारत की संपूर्ण कथा का छत्तीसगढ़ी रूप है । पंडवानी प्रस्तुत करते समय लोकनायक महाभारत की कथा को लोक-शैली में व्यक्त करता है । प्रारंभ में स्तुति की जाती है, यथा –

रामे-रामे, रामे, रामे गा रामे गा भैया
रामे, रामे, रामे, रामे, रामे, गा भाई
अरे स्याम सुखदाई मोर हलधर के भाई गा
भजन बिन मुक्ति नइ होय
अरे जग पालन सिरजन हारा गा
सोई देवी गरभ अवतारा
भजन बिन मुक्ति नइ होय गा भैया गा ।

पंथी गीत -

पंथी गीत सतनामियों द्वारा गाया जाता है। यह उनके गुरु घासीदास की आराधना और स्तुति में गाया जाता है। इस गीत में सतनाम पंथ का उल्लेख होता है। इसीलिए इस का नाम पंथी गीत रखा गया है। पंथी नृत्य पंथी गीत गाते हुए समूहों में किया जाता है। पंथी नृत्य, श्रम साध्य नृत्य है। पुरुष और स्त्री दोनों ही वर्ग के लोग इस नृत्य को करते हैं। पुरुष वर्ग टोलियाँ बनाकर गोल घेरा कर के नृत्य करते हैं तथा एक के ऊपर एक चढ़कर भी नृत्य करते हैं। इसमें बीच-बीच में 'साहेब' कहकर जोर से टेर लगाते है।

तैंतो रांधी डारे जेवन हो, आगी के बिना
पानी के बिना।
ऐ आगी के बिना साहेब, पानी के बिना।
ऐ देखा तो महिमा ला पापी खाए हार,
तैंतो रांधी डारे जेवन हो, आगी के बिना।
ऐ डोंगरी जाए बर घासीदास ला तियारे हो बाबा
जाए बर बाबा टंगिया ला धरे हो।
ऐ मारे भूख प्यास हम होगे खास तैं
ऐ संगवारी छोड़े गुरु घासीदास ला
तैं तो रांधी डारे जेवन हो, आगी के बिना।
पानी के बिना।

गौरा गीत -

छत्तीसगढ़ में निवास करने वाले गोंड जाति के लोग इस पर्व को बड़े ही धूमधाम से मनाते हैं। रावत जाति के लोग भी इसे मनाते हैं। गौरी पार्वती की प्रतिमा स्थापित कर के पूजा पाठ करते हैं। दीपावली की रात को जागरण करके शिव और पार्वती की पूजा की जाती हैं तथा दूसरे दिन इस का विसर्जन धूमधाम के साथ किया जाता है।

एक पतरी रैंनी झैंनी, राय रतन दुर्गा देवी।

तोर सीतल छांव माय. तोर सीतल छांव माय ।
जागो गवरी जागो गवरा, जागो सहर के लोग ।

नारी की विवशता का चित्रण निम्नलिखित गीत में किया गया है :-

ओगरी ओगरी नौ से ओगरी
जहां डड़ैया ला धांधै
ओगरी ले निकले डड़ैया अंगना बहारैं ।।
कैसे को निकलौं सासे, कोरवा के बालक रोवे ।
रोथे तो लड़ुवा धरा दे ।।
खाय बर खाही सासे, मरही पियासे
करसी म हावे ठंडा जल, जमो ला पिला दे ।।
पीये बर पीही सासे, मरही ओंघासी ।
घर में हावय पलंग बिछौना, वोला सोवा दे ।
सुते बर सुतही सासे, मरही जाड़े ।
आड़ा में हावे झिनी पिछौरी, जौन ला ओड़ा दे ।।

रावत गीत

१. दू दिन के दुनिया मां संगी, झन कर बहुते आस रे ।
नदी तीर के रुखुवा भैया, जब-तब होय बिनास रे ।।

२. तेल फूल मा लइका बाढ़ै, पानी मां बाढ़ै धान रे ।
बात-बात मां झगरा बाढ़ै, अउ खिनवा मां बाढ़ै कान रे ।

३. पांव जान पनही मिलै, घोड़ा जान असवार रे ।
सजन जान समधी मिलै, करम जान ससुराल रे ।।

४. गाय चराए गहिरा भैया, भैंस चराये ठेठवार रे ।
चारों कोती बहुत बोहाए, दही दूध के धार रे ।।

विवाह गीत –

तेलचघी – एक तेल चढ़गे हो हरियर हरियर ---

चुलमाटी – तोला माटी खने ला नइ आवय मीत धीरे-धीरे
तोर कनिहा ला ढील मीत धीरे-धीरे
जतेक पोरसय ओतेके ल लील धीरे-धीरे
तोला साबर धरे ला नइ आवय मीत धीरे-धीरे
ओखर धोती ला खींच धीरे-धीरे

बारह मासा

बारह मास में बारह महीनों का क्रम से उल्लेख रहता है । सामाजिक स्थिति तथा धार्मिक स्थिति का चित्रण इन गीतों में मिलता है –

आज कालामय कउन देव ला सुमिरंव रे भाई
सबोच देवता गइन लुकाय
सुमिरंव सुमिरंव मइन्ता मान के
सारदा देवीला सुमिरंव रे भाई
सावन महिना बिरहिन रोवे
जेकर सैंया गये हे परदेस
अभी कहुं बालम घर में रइतिस
तब सावन के करतेंव सिगांर
भादो महिना रंडिया रोवय
कुकुर रोवत में लगे कुवार
कातिक महिना गहिरा रोवय
सुमर सुमर पुरखा के नांव
अघन महिना कोलीहा रोवें
हुआ हुआ कर काटय रात
पूस महिना ड़ोकरा रोवै
खांसत खांसत करै बिहान

पारा परोसी गारी देवय
हत बुढ़वा तोर जऊंहर होय
माघ महिना राड़ी रोवय
होत बिहनियां नहाय ल जाय
नहा खोर के घर में आवय
अऊ तुलसा मँ हुम जलाय
फागुन महिना डिड़वा रोवय
गली गली मँ खेलै फाग

होली गीत

फाल्गुन माह में होली के अवसर पर ये गीत गाए जाते हैं। होली गीत या फाग गीत पुरुषों का गीत है। नंगाड़े, झांझ, मंजीरे, आदि वाद्य यंत्रों का प्रयोग इस में होता है। इन गीतों में प्रमुखतः कृष्ण और राधा तथा राम और सीता का चित्रण किया जाता है। इसमें श्रृंगार रस दृष्टिगोचर होता है। ये गीत समवेत स्वर में गाए जाते हैं। साज और आवाज दोनों का समावेश इन गीतों में होता है।

कहि देबे कहि देबे कहि देबे रे
आज होइ है महोबा मां फाग,
हीरा ला कहि देबे रे।
कौन बजाए ढोलकिया, ढोलकिया रे
कौन बजाए सितार,
सुवना ला कहि देबे रे।
आल्हा बजाए ढोलकिया, ढोलकिया रे
ऊदल बजाए सितार
सुवना ला कहि देबे रे।

होली खेलन गए गिरधारी

होली खेलन गए बनवारी।
काकर हाथ मां रंग कटोरा
काकर हाथ मां पिचकारी।
राधा के हाथ मां रंग कटोरा
कान्हा के हाथ मां पिचकारी।
होली खेलन गए बनवारी

फाग गीत का एक और उदाहरण इस प्रकार है –
मोहन खेले होली, मोहन खेले होली, संग बृजभान के दुलारी।
काकर भिजगे अगड़ो पगड़ी, काकर भिजगे साड़ो।
काकर भिजगे चोली, कौन रंग डारी, कौन रंग डारी,
संग बृजभान के दुलारी।
राम के भिजगे अगड़ी-पगड़ी, सीता के भिजगे साड़ी
राधा के भिजगे चोली, मोहन रंग डारी, मोहन रंग डारी,
संग बृजभान के दुलारी।

डंडा गीत

यह छत्तीसगढ़ का पुरुष प्रधान नृत्य गीत है। इसे 'रास' कहा जाता है। यह रावत जाति का प्रमुख नृत्य है। नृत्य करते हुए इन के द्वारा जो गीत गाया जाता है –यही डंडागीत के नाम से जाना जाता है। फसल काटने के पश्चात अन्न प्राप्त करने की खुशी में भी यह नृत्य किया जाता है। यह नृत्य समूहों में किया जाता है। युवक अपने दोनों हाथों में छोटे डंडे धारण करते है। नाचते समय वृत्ताकार रहते हैं। नाचते हुए ताल के अनुसार एक दूसरे के डंडे में ठोकर मारते है। ताल, लय एवं गीत के अनुसार सभी थिरकते है। गीत गाते समय 'उइ-उइ' की ध्वनि भी की जाती है।

सीता हरण का प्रसंग

वीप्र रूप तुम धरे निशाचर,
भिकछा मंगन चले आय हो लाल।
भिकछा ला धर के निकले जानकी,

रथ में लेगे बिठाय हो लाल ।
रथ में बइठे माता जानकी,
सरन-सरन गोहराय हो लाल ।
कोने होइ हैं मोर राम के पियारा
रथ ला वो मिलवाय हो लाल ।

सीता को खोजने का प्रसंग

राम लखन दोनों भैया मिल के,
जानकी खोजन चले-जाय हो लाल ।
बेंदरा-भालू दल साजे, भुई बेंदरा न समाय हो लाल
कटकत राहय मोर बेंदरा-भालू,
राम लखन ---------

खेल गीत

(१) भोरा लांवर मँ लोर-लोर, तिखुर मँ झोर-झोर
हंसा करेला पान, राय झूम बाँस पान, सुपली में बेलपान
लट्ठर जा रे भौंरा, मुन्नर जा रे भौंरा ----

(२) **कबड्डी (खुडुवा) –**

खुमरी के आल पाल, खाले बेटा बीरा पान ।
मे चलावंव गोटी, तोर दाई पोवय रोटी ।
मैं मारव मुटका, तोर ददा करे कुटका ।
आमा लगे अमली, बगइचा लगे झेरि
उतरत बेंदरा खोधराल टोर,
राहेर के तोन पान, देखे जाही दिनमान ।

(३) **अटकन-बटकन –**

अटकन बटकन दही चटाकन

लउहा लाटा बन के कांटा, चुहूर चुहूर पानी आए
सावन मां करेला फूले, चल चल बेटी गंगा जाबोन,
गंग ले गोदावरी, पाका पाका बेल खाबोन,
बेल के डारा टूट गे भरे कटोरा फूट गे।

धार्मिक गीत

(क) भजन

धर्म तथा पूजा पाठ से संबधित गीतों के अतिरिक्त कुछ ऐसे गीत हैं, जिनमें भगवान की स्तुति की जाती है तथा भगवान को स्मरण किया जाता है। ऐसे गीत 'भजन' के नाम से जाने जाते हैं, यथा –

तन के नइये भरोसा नई बांचे चोला।
खटिया कहिथे सुन गोसैंया सब दिन सोथो मोला।
एक दिन जब बेरा आही उलटा लेगिहौं तोला ।।
कपड़ा कहिथे सुन गोसैंया रोज लहरथो मोला।
एक दिन जब बेरा आही उलटा लेगिहौं तोला ।
लकड़ी कहिथे सुन गोसैंया रोज जलाथौ मोला।
एक दिन जब बेरा आही मैं तो लेसिहौं तोला ।।
साबर कहिथे सुन गोसैंया रोज खनथौ मोला।
एक दिन जब बेरा आही मैं गडियाहूँ तोला ।।

(ख) कबीर पंथी भजन –

छत्तीसगढ़ में निवास करने वाली अनेक जातियों ने जो अपने को अन्त्यज समझती थीं, कबीर पंथ को अपनाया और समाज में अपने आप को प्रतिष्ठित समझा। छत्तीसगढ़ के जुलाहे या कोष्टा आदि अपने के कबीर पंथी होने का गौरव मानते हैं। पनिका जाति ने भी कबीरपंथ को स्वीकार किया ।कबीरपंथी लोग कबीरदास के द्वारा रचित रचनाओं को ही भजन के रूप में गाते हैं यथा –

मोंहि अचरज लागै हो

एक अचम्मा ऐसे देख्यौं, कुँआ माँ लगगे आग ।
लद्दी चिखला जर बर गे, मछरी खेलें फाग ।।
एक अचम्मा ऐसे देख्यौं, बिल्ली नो हे गाय ।
दूध दही संग भेंट नइए, धीव बनारस जाय ।।

सबद पंथी गीत –

सत्य रैदास हे, सत्य घांसीदास हे ।
सत्य जीवन स्वास हे, सत्य इतिहास हे
सत्य आना जाना हे, सत्य इतिहास हे
सत्य नाम पाना हे, सत्य ल जमाना हे
सत्य करम धरम हे, सत्य हड्डी चरम हे
सत्य सरग नरक हे, सत्य पापी नरक हे
सत्य नदी नाला हे, हंसा वो अकेला हे
सत्य म हे आतमा, सत्य परमात्मा
सत्य गुरु नाम हे, गाए हे महात्मा
वही प्रभु पाही हो, जो सत्य नाम गाही हो
वही सरग जाही हो, जो गुरुनाम गाही हो ।।

-: छत्तीसगढ़िया बहिनों की राखी :-

१

छत्तीसगढ़िया भैइया तैं ह
आज ये राखी पहिन ले,
फूटी कौड़ी मैं नइ मांगव,
पाबे तंही आज वहिन ले ।

२

कब तक रहिबे सुधवा बुधवा।
कब बनबे तैं सुभमानी
कब तक रहिबे परबस, परबुधिया
मर खप सहत सबके मनमानी ।

३

सोंचत हस का तैं जोजवा भैइया,
काकर ठेका तैं ले ले हस
उत्तर पश्चिम पूरब तैं जा के
सब्बो के घर-ईंट बनाये हस ।

४

मअन भूंया,धर,'मत' गिरवी धर के
ओ का करबे, ओ पछताबे
तोला 'जोतिन' वो राजनीति मा
वो तो बनगे नेता, तैं झण्डा, दरी
उठाबे ।

५

बन-गाँव-खार मा फूट डार के
तोला जात पात मा बाटिन,
दुब्बर तैं तो फेर तब होगे
ओ तोर पेट लाबो काटिन।

६

फेर बांचे तो पड़गे चक्कर
ठेका, व्यापारी, अधिकारी के
लुटे बर तो ये हे काफी
का जरुरत डाकू-चोर-शिकारी के

७

महतारी के दूध ची पी लोस
बनगे तैं खूंटा के बछरू,
बोहाह पसीना अपन रात दिन
बनके भोकवा, भीखू, भंगरु ।

८

भिलाई बनाये बेदखल होय बर
कोरबा कोइलारी सब ले लिन
बैलाडीला के बोहागे लोहा
जगदलपुर ला सब दलदल कर दिन ।

९

राजजगिस, रायगिल, दुर्ग/ह टुटिस
काकर
अंबिका बिकगिस, बिलास लाश गे
दवा नइ ये पानी भी नई ये
ये का होगे हाय तोर घरबर ।

१०

महतारी के अलख जगाये
तैं बनाये हस कई सभा समाज
कहां छांड़बे कहां भाग बे
गोहारे बर तोर बिमरहा आवाज ।

११

चोर के अपन आंचर के फरिया
यई दुख मा बांधत हौं राखी
के 'महतारी' के आंसू बने हे तरिया
बनायें यही ल,मय,अपन,गवाही-
साखी ।

१२

अब तो जुरजा एक बने बर
एक गुने बर, एक करे बर
सब छानि के एक मंच कर एक रहे बर
मोर तोर 'महतारी के तैं लाज रखे
बर ।

डॉ. रीता तिवारी, रायपुर